

न हि ज्ञानेन सदृशं
पवित्रमिह विद्यते



—श्रीराम शर्मा आचार्य

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

लेखक
ब्रह्मवर्चस्

प्रकाशक
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो० ०९९२७०८६२८९, ०९९२७०८६२८७
फैक्स : २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११

मूल्य : १३.०० रुपये

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि

मथुरा (उ० प्र०)

लेखक :

ब्रह्मवर्चस्

पुनरावृत्ति सन् २०११

मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

शिक्षा के साथ विद्या का भी समन्वय अनिवार्य

मानवी विकास में साधनों के योगदान की बात मोटी बुद्धि भी जानती है। अमीर लोग मौज उड़ाते, बुद्धिमान समझे जाते और वाहवाही लूटते हैं। शरीर भी अपेक्षाकृत स्वस्थ, सुंदर रहता है। सफलता और सुविधा पाने पर मन का प्रसन्न रहना और उत्साह के वातावरण में अधिक सूझ-बूझ का परिचय देना भी एक हद तक सही है। लोक-प्रचलन में भी यही मान्यता जड़ पकड़ती जा रही है कि जिसके पास अधिक साधन होंगे, वह अधिक समुन्नत होता चला जाएगा। इस प्रतिपादन का जोर-शोर से समर्थन साम्यवाद ने किया। उसने प्रगति का प्रमुख माध्यम अर्थ को माना और संपन्नों के हाथ की संपदा का सर्वसाधारण में वितरण करने और सभी को समृद्ध बनाने की बात पर पूरा जोर दिया। वे लोग वितरण तक ही अपने प्रयोग अग्रगामी बना सके, संपन्नता उनके हाथ नहीं लगी। अमेरिका ने एक कदम आगे बढ़कर वह रास्ता अपना लिया जिससे उस देश के नागरिक धनवान एवं सुविधा-संपन्न कहला सकें। इतने पर भी मूल प्रश्न जहाँ का तहाँ है कि व्यक्तित्व की दृष्टि से मनुष्य अर्थ साधनों के सहारे सुविकसित हो सकता है या नहीं? इस कसौटी पर रूस-चीन जैसे साम्यवादी और अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश के नागरिकों की व्यक्तिगत स्थिति को देखते हुए किसी उत्साहवर्द्धक निष्कर्ष पर पहुँचते नहीं बनता। व्यक्तिगत रूप से मध्य-पूर्व के तेल देशों पर आधिपत्य जमाए, शहंशाहों की दौलत कुबेर के खजाने जितनी हो चली, फिर भी उनके व्यक्तिगत

वातावरण और क्रियाकृत्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि साधन-संपन्न लोग सुविकसित स्तर के ही होते हैं। संसार भर में भरे पड़े असंख्य साधन-संपन्नों को इस कसौटी पर कसने से यह विश्वास नहीं होता कि लोक-मान्यता के अनुसार यदि अमीरी बढ़ा दी जाए तो उसके उपभोक्ता उस स्तर के बन सकेंगे जिसे उत्कृष्टता संपन्न या समुन्नत व्यक्तित्व से सुसज्जित कहा जा सके।

साधनों के बाद स्वास्थ्य का नंबर आता है। बलिष्ठता की महिमा से भी इनकार नहीं किया जा सकता। काया सुखी रहती और सुंदर लगती है। बिना थके अधिक श्रम करना और अधिक कमाना बन पड़ता है। मित्रों की हिम्मत बढ़ती है और शत्रुओं पर आतंक छाता है। सामान्य-जन बलिष्ठों के सामने अनायास ही झेंपते और उनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं। लड़ाई-झगड़ों में तो उन्हीं को श्रेय मिलता है। पुलिस-फौज जैसे महकमों में भरती करते समय बलिष्ठता को प्रमुखता मिलती है। खेलों और दंगलों में जीतने वाले इसी स्तर के लोग होते हैं। मध्यकाल के सामंत युग में इसी स्तर के लोगों का बोलबाला था। वे गिरोह बनाकर अपना राज्य बनाते और आक्रमण-आतंक के सहारे राजा-महाराजा बन बैठते थे। युद्धों की हार-जीत भी इन बलिष्ठ योद्धाओं के बाहुबल पर ही निर्भर रहती थी।

इन दिनों सामर्थ्य का केंद्रबिंदु बाहुबल से हटकर यंत्र-उपकरणों और अस्त्र-शस्त्रों पर केंद्रित हो गया है। अतएव अब बलिष्ठों का प्राचीनकाल जितना महत्त्व नहीं रहा। वे जहाँ-तहाँ आतंक उत्पन्न करते भर देखे जाते हैं। रचनात्मक कार्यों में उनकी भूमिका नहीं के बराबर है। जहाँ तक उत्कृष्ट व्यक्तित्व का संबंध है, वहाँ तक सुदृढ़ और सुंदरों को पंक्तिबद्ध करके गंभीर पर्यवेक्षण

करन वाले किसी उत्साहवद्धक नतीजे पर नहीं पहुँचते। उन्हें ज ईश्वरीय देन मिली है या प्रयत्नपूर्वक उन्होंने जो सुदृढ़ता उपार्जित की है, उस पर प्रसन्नता एवं शुभकामना व्यक्त करते हुए भी यह आशा नहीं बँधती कि इस स्तर की प्रगति होती चले तो भविष्य में महामानवों की आवश्यकता पूरी हो सकेगी।

इससे आगे शिक्षा का क्षेत्र आता है। सुझाव यह है कि स्कूली पढ़ाई में ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जाए जिसमें मानवी सद्गुणों की महत्ता समझाई जाए और उसे ऐसी गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए जिनके सहारे मनुष्य समर्थ, सुयोग्य एवं प्रतिभाशाली बन सके। तर्क की दृष्टि से यह सुझाव सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। कोई बात समझ में आने पर ही मनुष्य कुछ करने के लिए अग्रसर होता है। चिंतन और प्रयास जिस स्तर के होते हैं उसी की छाप अंतरंग पर पड़ती है और उसी दिशाधारा में चलते रहने का अभ्यास संस्कार बन जाता है। यह संस्कार ही व्यक्तित्व है, इसलिए शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को सुविकसित बनाने की बात समझ में आती है।

यह प्रयोग प्राचीनकाल में गुरुकुलों के माध्यम से चलता रहा है और सफल भी हुआ है। पर यह सफलता मिली तभी है, जब शिक्षा की जानकारी प्रधान नहीं वरन जीवन का स्वरूप-उपयोग उसकी गरिमा के अनुरूप क्रियापद्धति का अभ्यास कराने की उसमें प्रधानता रखी गई थी। सांसारिक जानकारीयाँ सर्वसाधारण को एक सीमित दायरे की ही चाहिए। विश्व व्यवस्था का सामान्य परिचय होना ही पर्याप्त है। उन दिनों जिन्हें जिस समय में विशेषता प्राप्त करनी होती थी, वे उस विषय को अतिरिक्त रूप से पढ़ते थे। सामान्यतया विद्या को विशुद्ध रूप से जीवनविद्या अथवा ब्रह्मविद्या

के नाम से ही जाना जाता था। पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों का माहात्म्य, अभ्यास एवं प्रतिफल बताने वाले प्रसंग प्रस्तुत किए जाते थे। साथ ही छात्रों की दिनचर्या एवं कार्यपद्धति तदनुरूप बनाई जाती थी। सहकर्मियों की गतिविधियाँ भी तदनुरूप रहती थीं। समूचा वातावरण ऐसा रहता था, जिसमें एक की गतिविधियों से दूसरे को उपयुक्त प्रभाव ग्रहण करने एवं अनुकरण करने का अवसर मिले। संचित कुसंस्कार उभरने पर उनके शमन-समाधान के लिए क्या किया जाए, इसकी अनुशासन व्यवस्था भी ऐसी रहती थी, जिसमें अवांछनीयता के पनपने की गुंजाइश न रहे। चेतावनी, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त, प्रताड़नापरक अनुशासनों की प्रखरता रहने से उस वातावरण में अवांछनीयताएँ एक तो सहज उभरती ही न थीं। कहीं उछलीं तो उसका निराकरण भी विवेक, संयम और अनुशासन से भरे-पूरे वातावरण में सरलतापूर्वक होता रहता था।

यह प्रयोग इन दिनों जहाँ भी चल रहे हैं, वहाँ व्यवस्था के अनुरूप सफल हो रहे हैं। गुरुकुलों का प्राचीनकाल जैसा उपक्रम जहाँ भी चला है, वहाँ उसकी उपयोगिता असंदिग्ध रूप से सफल सिद्ध हुई है।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति को बदलने और ढालने के लिए शिक्षण और दबाव की दोहरी कार्यपद्धति अपनाकर 'ब्रेनवाशिंग' का प्रयोग अधिनायकवादी देशों में चला है। वहाँ कैदियों को शिक्षण और दबाव भरे ऐसे वातावरण में रखा जाता है, जिसके कारण पुराने चिंतन एवं अभ्यास को छोड़ने तथा नए ढाँचे में ढालने की विवशता सामने आ खड़ी हो और दूसरा कोई मार्ग ही शेष न रह जाए। इन कैदियों को आरंभ से तो यह प्रतिकूलता कष्टकर होती है, पर पीछे उन्हें विवशता को स्वाभाविकता अनुभव करने

और तदनुरूप गतिविधियाँ अपनाने की आदत पड़ जाती है। सरकस में काम करने वाले जानवरों की आदतें बदलने जैसा ही यह प्रयोग है। बकरे को देखते ही उस पर झपटने वाला सिंह तब सरकस में बकरे को अपनी पीठ पर बिठाते समय कोई हुज्जत नहीं करता। आग को देखते ही भागने वाले हिंस्र पशु आग के घेरे में घुसते-निकलते हैं तो प्रतीत होता है कि उनकी आदतों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया।

लोक शिक्षण की ऐसी ही कुछ विशेष प्रयोग पद्धतियाँ अपनाकर हिटलर के जमाने में जर्मन जनता को भी एक खास ढाँचे में ढाला गया और उन्हें विशिष्ट बिरादरी के लोग होने का अनुभव कराया गया था। नीत्से का अतिमानव हिटलर की चांडाल चौकड़ी पर छाया था और उस उन्माद में प्रायः समूचा जर्मन समाज ग्रस्त हुआ था।

ब्रेनवाशिंग का तरीका नैतिक दृष्टि से बौद्धिक बलात्कार है, उसमें मनुष्य को मिट्टी का ढेला मानकर मनमरजी ढालने का प्रयत्न किया जाता है और यह भुला दिया जाता है कि उसके भी कुछ मौलिक अधिकार हैं और उसे भी अपनी अंतरात्मा के अनुरूप सोचने तथा करने की सुविधा रहनी चाहिए।

यहाँ उस प्रयोग की चर्चा इसलिए की गई है कि उसे भी एक विशेष पद्धति में सम्मिलित किया गया है। वस्तुतः ब्रेनवाशिंग का सौम्य, शालीन और सदुद्देश्यपूर्ण तरीका वह है, जिसमें प्रशिक्षण, अभ्यास एवं वातावरण की अनुकूलताएँ जुटाकर मनुष्य को कुसंस्कारिता त्यागकर सुसंस्कारिता अपनाने की सुविधा उत्पन्न की जाती है। बच्चों के लिए गुरुकुल और बड़ों के लिए आरण्यक इसी प्रयोजन के लिए चलते थे और अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया सफल रहते थे। उस पद्धति का यदि पुनर्जीवन किया जा

सके तो निश्चय ही शिक्षा के माध्यम से उच्चस्तरीय व्यक्तित्व ढालने का उद्देश्य उत्साहवर्द्धक मात्रा में सफल हो सकता है। उसमें ब्रेनवाशिंग जैसा बलात्कार भी नहीं है और स्वेच्छापूर्वक अंतःप्रेरणा के सहारे आत्म-परिष्कार का उपक्रम भी चल पड़ता है।

यदि ऐसा परिवर्तन अभीष्ट हो तो वर्तमान शिक्षापद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा। उसमें से अनावश्यक और अप्रासंगिक जानकारीयों का जंजाल हलका करना होगा। सामान्य शिक्षा में सामान्य ज्ञान उतना ही रहे जितना संसार की सर्वोपयोगी जानकारीयों के लिए नितांत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पाठ्य पुस्तकों में जीवन के अंतरंग एवं बहिरंग पक्षों को सुविकसित बनाते हुए अति मानव स्तर तक पहुँचने की प्रभावी रूपरेखा का उसमें सघन समावेश किया जाए। इतना ही नहीं, उस प्रक्रिया को हृदयंगम कराने वाला, अभ्यास में उतारने वाला उपक्रम भी चलता रहे और वातावरण भी मिलता रहे; तभी शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास में सहायक बनाया जा सकेगा। इन तथ्यों का आज की शिक्षण पद्धति में समावेश न रहने से उसकी परिणति नाजुक बाबुओं की अथवा बेकारों की बिरादरी बढ़ाने में ही होती रहेगी। काम की प्रतिभाएँ तो उस क्षेत्र में थोड़ी ही उपलब्ध हो सकेंगी।

समग्र शिक्षा में मात्र पाठ्यक्रम ही सब कुछ नहीं है। वातावरण एवं उपक्रम का महत्त्व उससे कहीं अधिक है। इसलिए विद्यालयों से भी अधिक महत्त्व छात्रावासों का है। दोनों की संयुक्त व्यवस्था रहनी चाहिए। अन्यथा घर-परिवारों का विकृत वातावरण पाठ्यक्रम में समाविष्ट शालीनता पर भी बुहारी लगाता रहेगा। व्यक्ति अनुकरण प्रिय है। उस पर संगति का, वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रयोजन में परिवारों की स्थिति-व्यवस्था पर नए सिरे से

विचार करना होगा। अन्यथा स्कूली शिक्षा मात्र मस्तिष्कीय विकास भर का प्रयोजन पूरा करेगी, उससे व्यक्तित्वों के निर्माण में कोई कारगर सहायता न मिल सकेगी।

शिक्षा मनुष्य के बहिरंग जीवन को सुविकसित करती है और विद्या अंतरंग को। शिक्षा सांसारिक योग्यता, प्रतिभा बढ़ाती है और विद्या मनुष्य को सुसंस्कारी, उदार एवं उदात्त बनाती है, व्यक्तित्व को श्रेष्ठता एवं शालीनता से सुसंपन्न करती है। एक को सभ्यता के विकास का साधन तथा दूसरे को सांस्कृतिक उन्नति का माध्यम समझा जा सकता है। प्रगतिशील जीवन दोनों के समन्वय एवं सुविकसित होने पर बनता है।

प्राचीनकाल की व्यवस्था यह थी कि अंतः एवं बाह्य विकास के दोनों माध्यम 'विद्या और शिक्षा' शिक्षण के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े रहते थे। गुरुकुलों के पाठ्यक्रमों में दोनों का समान रूप से समावेश रहता था। गुरुकुलों के संचालक, शिक्षक एवं नेतृत्व करने वाले ऋषि हुआ करते थे। वे योग्यता, विद्वत्ता की दृष्टि से ही नहीं, चरित्र एवं अंतःकरण की महानता से भी सुसंपन्न हुआ करते थे। उनकी वाणी ही नहीं, व्यक्तित्व भी मूक रूप से शिक्षण करता था। वाणी तो सीमित भूमिका निभाती थी। शिक्षार्थियों के निर्माण एवं विकास में व्यक्तित्व का मूक शिक्षक अधिक प्रखर-प्रभावशाली सिद्ध होता था। फलतः विद्यार्थी, पाठ्य सामग्री से जितना सीखते थे, उससे अधिक आश्रम के वातावरण और आचार्य के व्यक्तित्व से ग्रहण करते थे। आश्रम के कठोर अनुशासन में वे मात्र योग्यता ही नहीं बढ़ाते थे, वरन सुसंस्कारों से अनुप्राणित होते थे। फलस्वरूप शिक्षा एवं विद्या, योग्यता एवं सुसंस्कारों से संपन्न होकर निकलने वाला हर छात्र देश और समाज के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होता

था। अधिकाधिक उपार्जन और व्यक्तिगत उपभोग की संकीर्ण परिधि में न रहकर समस्त समाज की प्रगति के लिए क्या किया जा सकता है, उस चिंतन और तदनुरूप क्रियान्वयन में उनकी चेष्टाएँ अधिक नियोजित रहती थीं। सर्वत्र स्वर्गोपम परिस्थितियों के दृष्टिगोचर होने से इस उदार भावना की ही प्रमुख भूमिका थी।

शिक्षा एवं विद्या से सुसंपन्न शिक्षण की, व्यक्ति और समाज के नवनिर्माण की यह श्रेष्ठ परंपरा कालांतर में लुप्त हुई। विद्यालय योग्यता वृद्धि के कागजी डिग्री प्राप्त कराने के साधन मात्र बनकर रह गए। आश्रमों जैसा न तो वातावरण रहा और न ही शिक्षण-अध्यापन करने वाले अध्यापकों का ऐसा व्यक्तित्व कि वे अपने चरित्र की छाप छात्रों पर डाल सकें। अपवादस्वरूप इक्के-दुक्के ऐसे व्यक्तित्व संपन्न अध्यापकों से व्यापक लक्ष्य की, छात्रों के नवनिर्माण की बात पूरी नहीं होती। बहुतायत तो उनकी है जो योग्यता एवं प्रतिभा की दृष्टि से तो ऊँचे हैं, किंतु व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से उतने ही घटिया। फलतः उनका शिक्षण बाह्य योग्यता संवर्द्धन का, डिग्री दिलाने तक का प्रयोजन भर पूरा करके रह जाता है। जब संस्कारों का, त्याग एवं बलिदान से अनुप्रेरित विचारों का बीजारोपण ही नहीं हुआ तो शिक्षित होकर निकलने वाले युवकों के मन में देश, समाज और संस्कृति के उत्थान की विचारणा कहाँ से आए? ऐसे शिक्षित छात्र विद्यालय की चहारदीवारी के बाहर शिक्षा समाप्ति के बाद जब कदम रखते हैं तो उनके मस्तिष्क में एक ही विचार रहता है—अच्छी नौकरी प्राप्त करना और जैसे भी हो, अधिक से अधिक उपार्जन करना। विद्या के अभाव में प्रकारांतर से योग्यता संकीर्ण स्वार्थपरता की, नीति-अनीति जैसे भी बने अपने हितसाधन की बात सोचती है।

अनीति, अनाचार, बेईमानी, भ्रष्टाचार संक्रामक रोग की भाँति समाज में फैलते जा रहे हैं। क्या अफसर, क्या नौकर, क्या मालिक, क्या मजदूर, अधिकांश इस पतन-प्रवाह में बह रहे हैं। कारणों में शासन व्यवस्था को, बाह्य परिस्थितियों को दोषी ठहराया जा सकता है, किंतु इनका वास्तविक कारण ढूँढ़ना हो तो वर्तमान शिक्षा प्रणाली का अध्ययन, पर्यवेक्षण करना होगा जो योग्यता संवर्द्धन की एकांगी नीति पर आधारित है। चरित्र की, कुसंस्कारों की अपेक्षा करने वाला शिक्षण कालांतर में अनेकों प्रकार की विकृतियों का, अवांछनीयताओं का कारण बनता है।

विकृत प्रचलन समाज में एक यह चल पड़ा है कि स्कूली शिक्षा की दृष्टि से शिक्षित व्यक्तियों को अधिक सम्मान दिया जाता है। जबकि होना यह चाहिए कि जो चरित्र संपन्न शिक्षित हैं उन्हें भी सम्मानित किया जाए। प्रशंसा करनी ही हो तो चरित्र संपन्नों की हो। ऐसा न होने से अधिकांश व्यक्ति चरित्र को गौण, उपेक्षणीय और डिग्री अथवा सांसारिक योग्यता को ही प्रधान मान बैठते हैं। उस ओर ध्यान नहीं जाता और प्रयास नहीं किया जाता, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि चरित्र बल के अभाव में न तो समाज की प्रगति हो सकती है और न ही देश की। चरित्र को विकसित करने, दृढ़ बनाने वाली विद्या का संबल न होने से एकांगी योग्यता बढ़ाने वाली शिक्षा अंततः समाज एवं राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में अवरोध ही खड़ा करती है।

नवनिर्माण का, प्रगति का लक्ष्य यदि एकांगी योग्यता से पूरा हो सका होता तो यह कभी का पूरा हो जाता। विद्वानों की कमी किसी युग में नहीं रही है और न आज है। फिर कारण क्या है कि

परिस्थितियाँ विपरीत दिखाई पड़ रही हैं। सर्वत्र विग्रह और विघटन बढ़ता जा रहा है। घूम-फिरकर बात वहीं आ जाती है जहाँ से आरंभ हुई थी। चरित्रवानों की कमी पड़ जाने से ही अनेकानेक समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। अंतः की महानता के अभाव में एकांगी विद्वत्ता, मस्तिष्क की प्रखरता ने तो विश्व में अवांछनीयताओं को अधिक बढ़ावा दिया है। गंभीर और बड़े अपराध जो जल्दी कानून की पकड़ में नहीं आते, पैने मस्तिष्क वालों द्वारा ही अधिक किए जाते हैं।

यहाँ शिक्षा का महत्त्व कम नहीं किया जा रहा है और न ही यह कहा जा रहा है कि शिक्षा अनुपयोगी है। शिक्षा की अनेकानेक उपलब्धियाँ सुविधा-साधनों के रूप में सर्वत्र दिखाई पड़ रही हैं। रचनात्मक दिशा के प्रयास प्रशंसनीय हैं। किंतु वह बैल, गाय, घोड़े की भाँति है जो तेजी से किसी भी दिशा में सृजन अथवा ध्वंस की ओर दौड़ सकती है। विद्या से उत्पन्न होने वाली सुसंस्कारिता एवं अंतः की महानता का अंकुश न होने से मनुष्य के स्वेच्छाचारी होने की पूरी-पूरी गुंजाइश रहती है।

नवनिर्माण के लिए किए जाने वाले अनेकानेक प्रयासों में एक अनिवार्य क्रम शिक्षण-प्रणाली के साथ ही जोड़ना होगा- शिक्षा के साथ विद्या समन्वय का। समाज एवं राष्ट्र के लिए श्रेष्ठ व्यक्तियों की खदान इसी प्रकार निकलेगी। यह गुरुत्तर दायित्व भावी पीढ़ी का नवनिर्माण का बोझ उठाने वाले अध्यापकों के ऊपर ही जाता है। उन्हें स्वयं का निरीक्षण, परीक्षण, व्यक्तित्व का परिष्कार एवं विकास करना होगा। वाणी योग्यता बढ़ाएँ और व्यक्तित्व चरित्र निर्माण का मूक शिक्षण करे। अध्यापकों द्वारा तेजस्वी-प्रखर लड़कों को प्रोत्साहन मिलता है। यह प्रोत्साहन उन्हें

ही मिले जो पढ़ने-लिखने में अच्छे तो हों पर सद्गुणी चरित्र संपन्न भी हों। कम्युनिस्ट देशों में साम्यवाद की विचारधारा की खुराक इसी प्रकार शिक्षण के साथ मनोवैज्ञानिक रूप से मिलाई जाती है और युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते विद्यार्थी साम्यवादी व्यवस्था में पूरी तरह ढलता चला जाता है। आधार तो यह न हो पर यदि चरित्र का, सुसंस्कारिता का, सद्गुणों का भी महत्त्व समझ लिया जाए और उनसे अनुप्राणित करने की पाठ्य सामग्री योग्यता संवर्द्धन के साथ-साथ चल पड़े तो कोई कारण नहीं कि इस दिशा में प्रयासरत समाज एवं राष्ट्र के हितचिंतक भावसंपन्न अध्यापकों का प्रयास सार्थक न हो। यह सुनिश्चित रूप से सफल होगा। समाज के अभिनव नवनिर्माण में योग्यता, प्रतिभा के साथ-साथ चरित्र की दृढ़ता एवं महानता की भी उसी अनुपात में आवश्यकता पड़ेगी। यह तभी संभव होगा जब शिक्षा और विद्या दोनों को ही समान रूप से महत्त्व दिया जाए। संभव हो सके तो सभ्यता और संस्कृति के विकास के दोनों ही प्रयोजन पूरे हो सकेंगे।

वही शिक्षा सार्थक, जो मनुष्य को स्वावलंबी बनाए

शिक्षा की परिभाषा करते हुए विचारकों ने उसे कितने ही अर्थों में परिभाषित किया है। पर भारतीय संस्कृति की शिक्षा संबंधी मान्यताओं को थोड़े से शब्दों में सटीक अभिव्यक्ति देते हुए स्वामी विवेकानंद ने कहा है—“शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की अंतर्निहित क्षमताओं को पूर्ण विकसित करना है।” इन शब्दों में शिक्षा की जो व्याख्या हो जाती है, वह अपने आप में अनुपम और अद्वितीय है। वस्तुतः शिक्षा का सही उद्देश्य और सार्थकता यही

है कि परमात्मा के युवराज मनुष्य को उसकी क्षमताओं से साक्षात् करा दे और उन्हें विकसित भी कर दे।

सभ्यता का जो विकास अब तक हो सका है, उसमें शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसे पारिवारिक और सामाजिक उपलब्धियों के संचरण का साधन कहा गया है। अर्थात् हमारे पूर्वज और पहले के समाज ने जो कुछ अर्जित किया, वह इस साधन द्वारा हमें प्राप्त हुआ। हम उसमें जो कुछ नया जोड़ते हैं, वह अगली पीढ़ी को दे जाएँ। मनुष्य का सभ्यता के आदिमकाल से लेकर अब तक जो विकास हुआ, मनुष्य ने जो अर्जित किया है, सभ्यता ने जो विकास किया है, वह संचरित हुआ वर्तमान पीढ़ी तक। नई पीढ़ी ने उसमें नई उपलब्धियाँ जोड़कर उत्तराधिकार में दूसरी पीढ़ी को दिया तथा उनसे उससे अगली वाली पीढ़ी को। इस प्रकार मानवी सभ्यता में निरंतर कुछ नया जुड़ता गया और उस समस्त पूर्वजत उत्तराधिकार में अगली पीढ़ी को मिलता रहा।

बेशक इस प्रकार मनुष्य का ज्ञान भंडार काफी विकसित हुआ। और आज इतना विकसित हो चुका है कि किसी एक व्यक्ति को समग्र रूप में दे पाना कठिन है। कठिन इसलिए कि सभी विषयों में पूर्ण ज्ञाता कोई एक व्यक्ति नहीं हो सकता और हो भी जाए तो वह हस्तांतरित नहीं कर सकता। अतः धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, शिल्प, विज्ञान की अनेकानेक धाराएँ बँटती गईं और अब उनकी संख्या इतनी अधिक हो चुकी है कि सभी लोगों के लिए सभी विषयों के नाम याद रख पाना भी कठिन है। अकेले रसायनशास्त्र की ही सौ से अधिक शाखाएँ हैं। दुनिया भर में पाँच सौ से अधिक धर्म-संप्रदाय चलते हैं। अकेले हिंदू धर्म की तीस से भी अधिक शाखाएँ हैं। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य जाति के पास उपलब्ध

ज्ञान भंडार इतना विस्तृत है कि वह थोड़े से लोगों के हाथ में नहीं रह सकता। अतः अलग-अलग विषयों के अलग-अलग ज्ञाता हैं। यह कोई जरूरी नहीं है कि रसायनशास्त्र की किसी शाखा का प्रकांड पंडित जीव विज्ञान में किसी जंतु के जीवनचक्र को भी समझे, जो कि जीवशास्त्र का प्रारंभिक छात्र भी जानता हो।

अतः शिक्षा का अर्थ सभी विषयों का पूर्ण ज्ञान तो नहीं है पर इतना अवश्य है कि व्यक्ति समाज के अन्य सदस्यों के साथ-साथ कदम मिलाकर चल सके। इसलिए सभ्यता के विकास के साथ शिक्षा व्यक्ति को अपने समाज के साथ जीना भी सिखाती है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जा रहा है वैसे-वैसे शिक्षा की आवश्यकता भी अनिवार्यता में बदलती जाती है। एक समय था जब लोग बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी में चलते थे। मोटर, रेल, विमान और चंद्रयान जैसे साधन जब आज सुलभ हो गए हैं तो किसी व्यक्ति का बैलगाड़ी के युग में ही जीना आश्चर्य का विषय हो सकता है। उस समय लोग तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार व्यावहारिक ज्ञान उपलब्ध साधनों से प्राप्त कर लेते थे, वंचित रह भी जाते तो वह कोई बुरा नहीं समझा जाता था। पर आज वैसा नहीं है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति अन्य लोगों और समुदायों से हटकर सीमित क्षेत्र में, अधिक से अधिक घर की चहारदीवारी में ही जी सकता है। क्योंकि अब तो घर से बाहर कदम रखते ही व्यक्ति में बाहरी दुनिया को समझने की क्षमता आवश्यक हो जाती है।

यह क्षमता केवल शिक्षा द्वारा ही संभव है। मनुष्य के लिए शिक्षा की आवश्यकता को मानव शिशु के माध्यम से भी समझा जाता है। जन्म लेने के बाद मनुष्य का बच्चा रोने-चिल्लाने लगता है, जबकि पशुओं के बच्चे अपनी खाद्य सामग्री आप ही ढूँढ़ने

लगते हैं। बच्चे को अपना आहार प्राप्त करने के लिए माँ को सहायता के लिए पुकारना पड़ता है। मानव शिशु असहाय है जबकि पशु स्वभावतः ही जन्म लेने के बाद अपना जीवन संघर्ष आरंभ कर देता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य कमजोर और पशु अधिक समर्थ है। वरन कारण यह है कि पशु जहाँ नैसर्गिक प्रेरणाओं से संचालित रहता है, वहीं मनुष्य को अपनी नियति आप निर्धारित करने का अधिकार मिला है। जन्मजात ही पशुशावक प्रकृतिदत्त प्रेरणा लिए रहता है और उसी अनुसार मरणपर्यंत चलता भी है। जबकि मनुष्य का जीवन अपेक्षाकृत अधिक जटिल, गतिवान और परिवर्तनशील रहता है। उसे औरों के माध्यम से बहुत कुछ स्वतः अर्जित करना पड़ना है। प्रकृति और दूसरों का सहयोग प्राप्त करने की कला उसे जन्म से ही सिखा देती है।

दूसरों की क्षमताओं और उपलब्धियों से सीखकर स्वयं को किस प्रकार विकसित किया जाए, इसका मार्ग शिक्षा ही सुझाती है। वह सहयोगापेक्षा के रूप में मनुष्य शिशु को आरंभ से ही वह कला सिखा देती है जिसके बल पर बच्चा आगे चलकर अपनी क्षमताओं का स्वामी बन जाता है तथा योग्यताओं में उनको बदल देता है।

क्षमताएँ योग्यताओं में तभी परिणत होती हैं जबकि तद्विषयक ज्ञानार्जन किया गया हो। ज्ञान या जानकारी का एक उपाय निरीक्षण और अन्वेक्षण तो है पर उससे कई गुना अधिक ज्ञान व्यक्ति दूसरों से सीखकर प्राप्त करता है। एक मशीन के पुरजे खोलने, बिना किसी की सहायता के उन्हें समझने और उस कला में पारंगत होने के लिए कई जन्म भी लग सकते हैं और पूरा जीवन भी खप सकता है। पर योग्य व्यक्तियों की सहायता से उन्हें समझने, उनका

उपयोग सीखने की चेष्टा की जाए तो व्यक्ति कुछ ही महीनों में निष्णात हो जाता है। सहयोगापेक्षा इस क्षेत्र में सर्वाधिक काम की सिद्ध होती है और प्रत्येक व्यक्ति स्वतः बहुत कम और दूसरों से विरासत के रूप में ही अधिक ज्ञान अर्जित करता है।

अपना विकास जहाँ प्रकृति की प्रेरणा है, वहीं उसकी कला और क्षमताओं का योग्यता में परिवर्तन समाज की देन। मनुष्य को प्रकृति की इस प्रेरणा के अनुरूप अपना विकास करने के लिए ही समग्र शिक्षण तंत्र का ढाँचा खड़ा करना पड़ता है। शिक्षण व्यवस्था और समाज की आवश्यकताओं का तालमेल बिठाते हुए निर्धारित की जाती है। व्यक्ति की आवश्यकता यह है कि वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता अर्जित करते हुए शारीरिक, वैयक्तिक एवं आत्मिक उन्नति करे और समाज को जिस दिशा में अग्रसर होना है उसी प्रकार का शिक्षा ढाँचा खड़ा करे, वह व्यक्ति को उस अनुरूप बनाती है। अर्थात् शिक्षा का एक प्रयोजन व्यक्ति को समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप संस्कारवान बनाना भी है।

ये दोनों कार्य व्यक्ति की स्वाभाविक क्षमताओं का विकास, ज्ञान और अपेक्षाओं का हस्तांतरण, बड़ी आयु की अपेक्षा छोटी आयु में ही अधिक सफलतापूर्वक संपन्न किए जा सकते हैं। क्योंकि उस समय व्यक्ति पर न तो कोई गंभीर दायित्व रहता है तथा उसकी मनोवृत्तियाँ भी लचीली होती हैं, जिन्हें मनचाहा मोड़ दिया जा सकता है। कुम्हार को जैसा खिलौना बनाना होता है मिट्टी में पानी डालकर उसे रौंद कर उसी प्रकार के साँचे में दबाते हैं। जैसे सिक्के ढालने होते हैं उसी प्रकार साँचे भी बनाए जाते हैं और उनमें पिघली धातु डाली जाती है। बचपन की उम्र पिघली धातु या गीली मिट्टी की तरह ही है; जिसे मनचाहा आकार दिया

जा सकता है। हिटलर ने विश्वविजय का स्वप्न देखा था तो उसने जर्मन तथा विद्यार्थियों के जातीय श्रेष्ठता और उनकी विशेष योग्यता की बात हर नागरिक के मन में भरने की ठानी। उसी अनुसार उसने वहाँ की शिक्षापद्धति का निर्धारण किया। परतंत्र भारत में क्लर्क-बाबुओं की ही आवश्यकता थी तो लॉर्ड मेकाले ने इसी आधार पर शिक्षा का ढाँचा खड़ा किया।

शिक्षा द्वारा ज्ञान के हस्तांतरण की बात आरंभ में कही गई है। वह शिक्षा का महत्त्व दर्शाने के लिए ठीक है। पर वह विशिष्ट व्यक्तियों से ही संभव है। सामान्य व्यक्तियों के लिए तो आरंभ में अपनी क्षमताओं के सामान्य विकास; जीवन को सफल बनाने की कला में पारंगतता तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने की तत्परता का ही प्रयोजन रहता है। लेकिन अपने देश में सभी व्यक्तियों के लिए शिक्षा का यह स्तर निर्धारित करना इसलिए भी कठिन है कि यहाँ की अधिकांश जनसंख्या अशिक्षित है। नई पीढ़ी को शिक्षित करने के साथ-साथ उसे भी सँभालने की जरूरत है और यह कार्य वे ही व्यक्ति अच्छी तरह संपन्न कर सकते हैं, जो स्वयं शिक्षित हों तथा शिक्षा को सभ्यता के दौड़ में समानांतर दौड़ने के आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी अनुभव करते हों।

प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए अलग से शिक्षाक्रम निर्धारित करना चाहिए, ताकि वे भी अब तक आई कमियों को दूर कर सकें। जनस्तर पर कार्यान्वित हो सके इस तरह की व्यावहारिक शिक्षा तीन भागों में बाँटी जा सकती है। पहली अक्षरज्ञान के साथ-साथ संसार की विभिन्न परिस्थितियों की जानकारी। उसके बाद दूसरे क्रम पर शारीरिक, आर्थिक एवं भौतिक जीवन को सरल व सफल बनाने योग्य उपयुक्त ज्ञान तथा तीसरे चरण में मानसिक तथा

भावनात्मक स्तर पर व्यक्तिगत एवं सामाजिक गतिविधियों का बोध। इसके बाद का क्षेत्र व्यक्ति के लिए स्वतः छोड़ दिया जाए कि वह चाहे तो किसी विषय में विशेष योग्यता अर्जित कर सके।

प्रयत्न तो यह किया जाना चाहिए कि व्यक्ति अपनी भौतिक संपत्ति बढ़ाने की जितनी चिंता करता है और उसके लिए जितना प्रयत्नशील रहता है, उतना ही प्रयत्नशील अपनी ज्ञान संपदा बढ़ाने के लिए भी रहे। मनुष्य का वास्तविक धन तो विद्या ही है, जिसे न कोई चुरा सकता है और न डाकू छीन सकता है। जनस्तर पर विद्या की संपत्ति बढ़ाते रहने के लिए प्रोत्साहन की सुविधा करनी चाहिए और वैसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न की जाती रहनी चाहिए।

आजकल शिक्षा के प्रति अभीष्ट रुचि का अभाव लोगों में इसलिए भी देखा जाता है कि वे पढ़-लिखकर नौकरी तलाश करने के चक्कर में वर्षों इधर से उधर भटकते रहे। लाखों छात्र प्रति वर्ष पास होते हैं और सभी की इच्छा अच्छी और ऊँची नौकरी प्राप्त करने की होती है। इन सबको कहाँ से काम मिले? कहाँ से नौकरी दी जाए? फलतः शिक्षितों की बेकारी देखकर भी सामान्य सूझ-बूझ के अभिभावक अपने बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहते। इस स्थिति का सामना करने के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहे प्रत्येक व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण सुधार लेना चाहिए। शिक्षा को विशुद्ध रूप से ज्ञान संवर्द्धन तथा व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकता पूरी करने के लिए प्राप्त किया जाए, न कि अच्छी, ऊँची और आराम की नौकरी मिलने का सपना देखते हुए। आज की परिस्थितियों में शिक्षा को सीधे जीविकोपार्जन का उपाय न बनाया जाए, न बनाने की सोची ही जाए वरन व्यक्तित्व निर्माण को प्राथमिकता दी जाए।

महात्मा गांधी ने शिक्षा का विश्लेषण करते हुए कहा था—
“जो शिक्षा चरित्रवान न बना सके, मन इंद्रियों को वश में न रख सके, आत्म-विश्वास न उत्पन्न कर सके, स्वावलंबी न बना सके, उस शिक्षा में चाहे जितना जानकारी का भंडार, तार्किक विशेषता अथवा पांडित्य हो, वह अपूर्ण है।”

देश में प्रतिवर्ष बढ़ती हुई शिक्षित बेरोजगारों की संख्या इसी तथ्य का बोध कराती है कि प्रचलित ढर्रे की शिक्षा शिक्षार्थी को स्वावलंबी बनाने और उसकी दैनिक जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझा पाने में असमर्थ है। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार वर्ष १९८० तक शिक्षित बेरोजगारों की संख्या एक करोड़ ४५ लाख थी। इसमें प्रतिवर्ष ६० लाख की संख्या और जुड़ती जा रही है।

रोजगार योजना में सरकार सीमित शिक्षितों को नौकरी दे पाने में सफल हो सकी। बड़ी संख्या बेरोजगारों की फिर भी प्रतिवर्ष रोजगार प्राप्त करने से वंचित रह जाती है। इनमें प्रतिवर्ष ६० लाख की अतिरिक्त संख्या और जुड़ जाती है। ढर्रा इसी प्रकार चलता रहा तो स्थिति और भी विस्फोटक होती जाएगी और देश की युवा शक्ति से देश की उन्नति में मिलने वाले सहयोग से वंचित रहना होगा।

प्रस्तुत इस कठिनाई का हल सरकार के ऊपर छोड़कर चुप हो जाना चाहिए अथवा देश के विचारशील वर्ग तथा जन सामान्य का भी कुछ कर्तव्य होता है कि निदान के लिए कुछ कारगर कदम उठाएँ, यह विचारणीय है। सर्वविदित है कि सरकारी योजनाएँ जन सामान्य के सहयोग से ही सफल हो पाती हैं। पिछले कई वर्षों से यह समस्या देश के समक्ष मुँह फाड़े खड़ी है और दिन-प्रतिदिन विकराल होती जा रही है। सरकारी सेवाओं में सीमित व्यक्तियों

की आवश्यकता होती है। फलस्वरूप उनमें खपत भी सीमित व्यक्तियों की ही हो सकती है। यह सोचना अविवेकपूर्ण है कि सरकार सेवाओं में सभी शिक्षितों को रोजगार के अवसर मिल जाएँगे। आवश्यकता से अधिक नियुक्तियों का अर्थ होगा—असंतुलन उत्पन्न हो जाना।

प्रस्तुत कठिनाई के हल के लिए दो तरह के प्रयास करने होंगे। एक में तो सरकारी सहयोग अपेक्षित है तथा दूसरे में जन सहयोग। दूसरे देशों में शिक्षा दो भागों में विभक्त है—सामान्य और विशिष्ट शिक्षा। सामान्य शिक्षा के साथ सामान्य ज्ञान की विविध धाराएँ जुड़ी हुई हैं, जिसका लक्ष्य है दैनिक जीवन में काम आने वाली सामान्य ज्ञान की बातों से शिक्षार्थी को अवगत कराना। इस शिक्षा के साथ तकनीकी एवं औद्योगिक ज्ञान का शिक्षण अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। रूस, अमेरिका और इंग्लैंड जैसे देशों में प्राइमरी और सेकेंड्री शिक्षा के साथ ऐसी व्यवस्था है कि विद्यार्थी स्कूली शिक्षा के साथ-साथ तकनीकी और औद्योगिक शिक्षण प्राप्त करता रहे। जिन विद्यालयों में ऐसी व्यवस्था नहीं है, वहाँ गैर-सरकारी ऐसी संस्थाएँ हैं जो इस प्रकार का शिक्षण देती हैं। फलस्वरूप विशिष्ट शिक्षा प्राप्त न करने वाले छात्रों को भी रोजगार के लिए भटकना नहीं होता। वे विभिन्न कार्यों हेतु इतनी प्रवीणता प्राप्त कर लेते हैं कि अपनी जीवन गाड़ी स्वयं खींच सकें। ये शिक्षण कई प्रकार के होते हैं—कुटीर उद्योग, कृषि करने की विशिष्ट तकनीकी, ड्राइंग, पेंटिंग, छोटे-छोटे मोटर पार्ट्स बनाना, रेडियो, ट्रांजिस्टर, घड़ी ठीक करने जैसे अनेकों प्रकार के शिक्षण प्रचलित हैं। कितने ही छात्र विद्यार्थी जीवन में ही इनमें प्रवीणता प्राप्त करके स्वावलंबी होकर शिक्षा अर्जन करते रहते हैं। किन्हीं

कारणों से जो आगे की शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाते, वे अपना स्वतंत्र व्यवसाय खोल लेते हैं अथवा प्रवीण होने से किसी न किसी औद्योगिक प्रतिष्ठान में रोजगार सहज ही उपलब्ध कर लेते हैं।

विशिष्ट शिक्षा के लिए वे ही छात्र उन्मुख होते हैं जो अत्यंत मेधावी होते हैं और भविष्य में शीघ्र प्रयोजनों में अपनी क्षमता लगाना चाहते हैं। रूस आदि देशों में तो देश की आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा दी जाती है। जिस विभाग में जितने व्यक्तियों की जरूरत होती है उतने ही व्यक्ति उस विषय में नामांकित किए जाते हैं। फलस्वरूप असंतुलन की स्थिति नहीं उत्पन्न होने पाती, न ही अपने देश जैसी स्थिति आती है, कि विशिष्टता हासिल करने के बाद भी युवक को रोजगार के लिए भटकना पड़े। अपने देश के लिए भी यह व्यवस्था उपयोगी होगी। देश को प्रतिवर्ष कितने अध्यापकों, कितने इंजीनियरों, कितने चिकित्सकों की आवश्यकता है इसका पूर्व निर्धारण हो सके तथा इन विषयों में विशिष्टता प्राप्त करने में नामांकन पर प्रतिबंध लगाकर उतने ही छात्र लिए जाएँ तो प्रस्तुत बेकारी का सामना न करना पड़े। यह तो विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिए व्यवस्था होनी चाहिए।

सामान्य शिक्षा प्राप्त करने वालों के साथ तकनीकी ज्ञान का प्रशिक्षण अनिवार्य रूप से जुड़ा होना आवश्यक है। अपने यहाँ हाईस्कूल, इंटर अथवा बी० ए० पास करने के बाद यदि किसी सरकारी दफ्तर में नौकरी नहीं मिलती तो युवक को बेकार बैठना होता है। उसमें इतनी अतिरिक्त योग्यता नहीं होती जिसके बलबूते स्वतंत्र कोई रोजगार अथवा व्यवसाय कर सके। फलस्वरूप उन्हें दर-दर भटकना पड़ता है। प्रचलित शिक्षा के साथ औद्योगिक प्रशिक्षण का क्रम समाविष्ट किया जाना अनिवार्य है। जिससे छात्रों

में स्वावलंबन के लिए आत्मविश्वास पैदा हो सके और पढ़ाई छूटने के बाद उस तकनीकी योग्यता के सहारे छोटे-मोटे उद्योग खोलकर अपना निर्वाह कर सके। बेरोजगारी और अधिक न बढ़े, इसके लिए शिक्षा के साथ उपरोक्त व्यवस्था बनानी चाहिए।

जो शिक्षित श्रमशक्ति बेकार बैठी अपनी क्षमता को नष्ट कर रही है, उसके लिए सहकारी संगठनों के आधार पर कुटीर उद्योगों की व्यवस्था बनानी होगी। शिक्षितों की बेरोजगारी समस्या के हल में एक मनोवैज्ञानिक अवरोध भी है। अँगरेजी हुकूमत ने ऑफिस में काम करने वाले बाबुओं को जो प्रतिष्ठा दी, वह अब भी भारतीय मानस में बैठी चली आ रही है। बाबूगिरी का काम करने वाले, कुरसी पर बैठकर कलम घिसने वाले व्यक्ति बड़े होते हैं तथा शारीरिक श्रम करने वाले छोटे-छोटे काम करने वाले छोटे। यह बेहूदी मान्यता आज अपने देश में प्रचलित है। फलतः श्रम के प्रति अवमानना एवं उससे कन्नी काटने, जी चुराने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखी जा रही है। कामचोर की, हरामखोर की मनोवृत्ति प्रकारांतर से इस मान्यता की ही परिणति है। बेरोजगारी का हल नहीं निकलता, इसके कारणों में श्रम की अवमानना भी आड़े आती है।

यदि ऐसा नहीं होता तो छोटे-मोटे कितने ही ऐसे काम हैं जिनमें न तो विशेष योग्यता एवं अनुभव की आवश्यकता होती है और न ही विशेष पूँजी की। थोड़े अभ्यास से उन्हें कोई कर सकता है। सुनार, लोहार, राज, हज्जाम, मोची, दरजी, किसान आदि के लड़के सहज ही अपने पैतृक व्यवसाय में पारंगत हो जाते हैं। पशुपालन, दुग्ध व्यवसाय जैसे उद्योगों में विशिष्ट तकनीकी ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती। इनमें थोड़ा श्रम अधिक लगाने के कारण ही शिक्षित अवमानना करते तथा उपयोगी होते हुए भी नहीं

अपनाना चाहते। श्रम के प्रति उपेक्षा की मनोवृत्ति को उलटना होगा।

सहकारी संगठनों की स्थापना और उनमें कुटीर उद्योगों का प्रचलन जन स्तर पर करना होगा। थोड़े से विचारशील और समर्थ इस पुनीत कार्य के लिए उठ खड़े हों तो जो समस्या सरकार के समक्ष सरदर बन गई है उसका हल देखते-देखते निकल सकता है। कुटीर उद्योगों को नगरों की अपेक्षा ग्रामों में विकेंद्रित करना कहीं अधिक श्रेयष्कर और गाँवों के विकास के लिए भी उपयोगी होगा। यह सब शिक्षण तंत्र सुव्यवस्था एवं सुनियोजन होने पर ही संभव हो सकेगा।

आज के युग में अर्थकारी शिक्षा का विशेष महत्त्व है। यदि ऐसी शिक्षा उत्पादन से संबंधित है, तब इसे प्राप्त कर लेने पर किसान अथवा व्यापारी, शिक्षक अथवा कारीगर की संतानें रोजगार के लिए दर-दर न भटककर व्यावहारिक शिक्षा के माध्यम से ही अपने-अपने कार्य में स्वयं दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। प्रारंभ में भले ही वह थोड़ा कमा पाते हों किंतु दो-पाँच वर्षों में वह अपनी रोटी स्वयं कमाने लगते हैं।

भारत में छोटे-छोटे कारीगर जैसे सुनार, राज, नाई, धोबी, मोची, दरजी आदि हाथ से काम करते हैं। इसलिए उनके बच्चे प्रारंभ से ही अपने माँ-बाप के साथ काम करने लगते हैं और बड़े होकर कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं और कुशल कारीगर बन जाते हैं। तब उन्हें सिखाने के लिए क्राफ्ट स्कूल जैसे न अध्यापकों की जरूरत होती है न उतने भारी-भरकम सरंजामों की जोड़-तोड़ ही करनी पड़ती है। अधिकतर बेरोजगारी की शिकायत उन्हें जो अपने पैतृक धंधे को छोड़कर दफ्तरों में बाबू बनना और कुरसी पर

बैठकर पंखे की हवा खाना पसंद करते हैं। बेरोजगारों की लंबी सूची में जागीरदारों, जमींदारों, अफसरों की संतानें ही अधिक होती हैं, जो शारीरिक श्रम से बचने के लालच में आराम पाने के लिए छोटी-मोटी नौकरियाँ ढूँढ़ते रहते हैं। तकनीकी ज्ञान के अभाव में नवयुवक परावलंबी ही बने रहते हैं।

अभी हाल में ही भारत में आयोजित विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने आए एक दल ने बताया कि बेरोजगारी उन्मूलन के लिए और स्वयं दस्तकार बनने की दिशा में जापान ने साइंस कॉलेजों के स्थान पर टेक्नोलॉजी युक्त कॉलेजों की स्थापना की है जिसका सीधा संबंध उत्पादन से है। इसी कारण कार्य कर सकने योग्य व्यक्तियों में से ७५ प्रतिशत लोग जापान की तकनीकी औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में सहयोग करते हैं और केवल पाँच प्रतिशत अन्न उत्पादन और कृषि कार्य करते हैं।

भारत में प्रति वर्ष शिक्षा के क्षेत्र में कोई न कोई कमीशन बैठता है और विचार करता है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली में कैसे परिवर्तन किए जाएँ और उसे कैसे व्यावहारिक बनाया जाए और उत्पादन के साथ किस प्रकार तालमेल बिठाया जाए, किंतु सरकारें बदलने के साथ कमीशनों की रिपोर्ट्स भी दब जाती हैं। महात्मा गांधी के अतिरिक्त भी कितने ही राजनीतिक, धार्मिक, समाजसेवी और विद्वान सदैव यही कहते रहे हैं कि अँगरेजी शिक्षापद्धति में परिवर्तन करने पर ही भारत से गरीबी और बेरोजगारी हटाई जा सकती है। अँगरेजों के लिए तो यह शिक्षापद्धति उत्तम थी, जिससे उन्हें क्लर्क, चपरासी आसानी से मिल जाते थे, किंतु अब बढ़ती जनसंख्या को देखते हुए और प्रगतिशील विश्व के समाजों के साथ कदम मिलाने के लिए शिक्षा जगत में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है।

गांधी जी जिस शिक्षा की अपेक्षा करते थे, वह स्वतंत्र भारत में इतने अव्यावहारिक ढंग से लागू की गई कि उसका असफल होना स्वाभाविक ही था। होना तो यह चाहिए था कि कक्षा ६ से ८ के बालकों को किताबी ज्ञान के साथ बालक की रुचि के अनुसार दरजी, मोची, नाई, लोहार, सुनार, माली, जिल्दसाज, बुनाई, बिजली, नल, चित्रकारी, घड़ीसाज, मोटर बाइंडर, टाइपिंग, दरी-चटाई, निवाड़-कुरसियाँ बुनना, डबल रोटी, मोमबत्ती बनाना, खिलौना बनाना, साइकल सुधारना सिखाना चाहिए था। किंतु शिक्षकों की भूल और व्यावहारिक ज्ञान के अभाव में बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम कक्षा एक से ही लागू कर दिया गया, जबकि अभी बच्चे का विकास इतना भी नहीं हो पाता कि वह अपने शरीर के वस्त्र स्वयं सँभाल सके।

दस-बारह वर्ष का होते-होते बालक के स्वभाव में, शरीर में स्थिरता, दृढ़ता आने लगती है, तब उसे न भाषा और गणित कठिन लगते हैं और न क्राफ्ट के कार्य से उसका जी ऊबता है और नए-नए कार्यों की उत्कंठा जाग्रत होती है। यंत्रों की पहचान और उनके उपयोग की सही विधि की जानकारी उसे होने लगती है। अनेकों भिन्न काम जानने की रुचि जान पड़ती है। तब कक्षा ६ के छात्रों को सहायक का काम, सातवीं को जोड़ने-तोड़ने का काम और आठवीं को वस्तु तैयार करने का कार्य यदि दिया जाए तो १०वीं कक्षा तक बालक कुशल कारीगरी सीख सकता है। जैसे दरजी के धंधे को उदाहरण के लिए लिया जाए; उसमें कक्षा छह का बालक मशीन पर धागा चढ़ाए, काज बटन करना सीखे, कक्षा सात के बालक उपरोक्त कार्य के अतिरिक्त छोटी-मोटी सिलाई भी कर सकता है, बनियान, पाजामा, तकिया की, रजाई की खोलें

सीं सकता है और आठवीं कक्षा का बालक कपड़े काटना, सीना, इस्त्री करना भी सीख सकता है। भले ही वह सूट-पेंट जैसे बड़े कीमती कपड़े न सीं सके किंतु कक्षा १० तक आते-आते वह निपुण दरजी का कार्य कर सकता है।

इसी प्रकार सुनारी, लोहारी, बिजली, लकड़ी आदि के अनेक कार्यों में बुनियादी तालीम व्यवहार की जा सकती है। किंतु दुर्भाग्यवश अथवा प्रमादवश शिक्षा जगत में इस योजना को मान्यता नहीं मिल पा रही है। अन्यथा अब तक कितने ही सुधार होते-होते इतनी उत्कृष्ट और पूर्ण बन गई होती कि बेरोजगारी का निशान भारतभूमि से मिट गया होता। पैत्रिक व्यवसाय की परंपरा हमारे यहाँ सदैव से रही है। मात्र उसमें आज की परिस्थितियों से तालमेल कर थोड़ा-बहुत सुधार भर किए जाने हैं। इससे शहरों की ओर पलायन भी न होगा और पैत्रिक व्यवसाय की उपेक्षा भी न होगी। असल में पैत्रिक व्यवसाय के कारण ही भारत में कभी बेरोजगारी की शिकायत नहीं रही।

बुनियादी शिक्षा को व्यावहारिक शिक्षा इसलिए भी कहा जाता है कि इसको जानकर छात्र हाथ से कार्य करने में दक्ष हो जाता है और जहाँ पर कि प्रशिक्षित और दक्ष इंजीनियर, डॉक्टर आदि भी नौकरी की तलाश में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, वहाँ वह पर्याप्त रुपया प्रतिदिन कमा लेता है। इंजीनियर, डॉक्टर, बी० ए०, एम० ए० के स्नातक बेरोजगारी के दफ्तरों के चक्कर लगाते, तब तक वह हाथ की दस्तकारी मेकेनिक आदि का धंधा कर गृहस्थी भी बसा लेता है।

काम से जुड़ी सोद्देश्य शिक्षा का महत्त्व अभी लोगों ने समझा नहीं है, न उन्हें इससे संबंधित स्वावलंबन और सम्मान के

जुड़े होने की बात का ज्ञान है। जब उन्हें इन लाभों का ज्ञान होगा तब वे नौकरियों के लिए भटकना छोड़ देंगे। नवयुवक जानते नहीं कि दरजियों, लुहारों, सुनारों, मोटर मैकेनिकों, बाइंडरों, साइकल रिपेयरों को कब किसी के घर काम करने जाना पड़ता है। उनके ठौर-ठिकाने पर ही लोग आते हैं।

आज की बेरोजगारी का समाधान इसमें है कि डिग्री-पारायण बनने के स्थान पर जनमानस को कार्य-पारायण बनाया जाए। कोई काम कुरसी पर बैठने से बड़ा व भट्ठी के पास बैठने से छोटा नहीं हो जाता। यह एक भ्रांति मात्र है जो व्यक्ति को या तो बेकार बना देती है या पाश्चात्य वेशभूषाधारी बाबू। शिक्षा का अर्थ है—अनौपचारिक व्यावहारिक कर्मकौशल। इस तथ्य को आत्मसात कराने के लिए जनचेतना को व्यापक स्तर पर जगाना होगा।

साक्षरता विस्तार, पढ़े-लिखों का महत्त्वपूर्ण दायित्व

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास और चरित्र के निर्माण में शिक्षा का असाधारण महत्त्व है। अशिक्षित व्यक्ति राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हलचलों से न केवल अनभिज्ञ रहता है, वरन् शिक्षा के अभाव में वह उन सामान्य जानकारीयों से भी वंचित रह जाता है, जो जीवन को सरल, सुखद और सुविधापूर्ण बनाने के लिए अनिवार्य होती हैं। यों खाने-पीने और सोने-जागने को ही मनुष्य जीवन का स्वरूप समझा जाए तो बात अलग है। इस ढर्रे का जीवन तो पशु-पक्षी भी जी लेते हैं। यदि मनुष्य भी उसी स्तर का जीवन जीता रहा तो पशु-पक्षियों, जानवरों और उसमें क्या अंतर रहा? यदि मनुष्य को इन पशु-पक्षियों से भिन्न और उच्च

स्थिति का प्राणी समझा जाए तो उसका कार्यक्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ उसकी गतिविधियों का क्षेत्र भी व्यापक बन जाता है।

अशिक्षित व्यक्ति अपने जीवन के महत्त्व, समाज के प्रति अपने दायित्व और कर्तव्य, अपने अधिकार और मनुष्य जीवन की गरिमा को समझना तो दूर रहा, उल्टे अनेकानेक प्रकार की भ्रांतियों और भ्रष्टताओं का शिकार बनता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शिक्षित व्यक्ति आचरण और चरित्र की दृष्टि से पूरी तरह उज्ज्वल जीवन जीते हैं। भ्रांतियाँ और भ्रष्टताएँ उनमें भी होती हैं लेकिन रूढ़िग्रस्तता, अंधविश्वास, संकीर्णता आदि कमजोरियाँ अशिक्षित व्यक्ति में अपेक्षाकृत अधिक होने की संभावना रहती है। अपने देश में पिछड़ेपन, अंधविश्वासों का साम्राज्य, स्वतंत्र होने पर भी उसकी गौरवानुभूति का अभाव आदि कई विसंगतियाँ व्याप्त हैं, इसका प्रमुख कारण अशिक्षा ही समझना चाहिए।

शिक्षा से तात्पर्य स्कूल जाने और वहाँ पढ़ने से ही नहीं है। स्कूल जाने और पढ़ना-लिखना सीखने का शुभारंभ तो शिक्षा की प्रथम कक्षा है। जीवन को सफल बनाने, समाज एवं राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होने की जानकारी, प्रशिक्षण, वैयक्तिक एवं सामाजिक गतिविधियों का बोध आदि सभी विषय शिक्षा में समाहित हो जाते हैं। कुल मिलाकर मनुष्य की अंतर्निहित क्षमताओं का परिचय तथा उनके विकास की कला जानना-सीखना शिक्षा में ही सम्मिलित है। अस्तु शिक्षा से तात्पर्य स्कूली शिक्षा का एकांगीपन नहीं है, वरन उसमें सांसारिक ज्ञान, भौतिक और आत्मिक प्रगति तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख-शांति की समुचित जानकारी का भी समावेश है।

इस व्यापक अर्थ को साकार करने के लिए पहला चरण निरक्षरता निवारण के रूप में ही उठाना पड़ेगा। साक्षरता के बाद

ही दूसरी जानकारीयाँ उपलब्ध कराने तथा जीवन को सार्थकता की दिशा प्रदान करने का कार्य संपन्न हो सकता है। अशिक्षित, निरक्षर व्यक्ति नवनिर्माण के प्रयत्नों में सहयोग देना तो दूर रहा, यह भी नहीं जानता कि इनका महत्त्व क्या है और यह क्यों आवश्यक है? अपने देश में केवल ६५ प्रतिशत लोग ही शिक्षित हैं। इनमें वे लोग भी आ गए हैं, जिन्हें केवल हस्ताक्षर करना आता है। बाकी ३५ प्रतिशत तो पूरी तरह निरक्षर लोगों की बहुलता के कारण ही भारतीय समाज २१वीं शताब्दी में भी बेहद पिछड़ा और अविकसित माना जाता है। पश्चिमी लोगों की धारणा है कि भारत सपेरो, जादूगरों और साधु-बाबाओं का देश है। इसमें कोई अतिरंजना नहीं है। जिस किसी ने भी यह बात कही होगी उसके सामने निश्चित रूप से ३५ प्रतिशत वह भारतीय जनता रही होगी जो पढ़ने-लिखने के नाम पर एक भी अक्षर नहीं पहचानती।

इस तथ्य के साथ शिक्षा के महत्त्व को समझना चाहिए और जिनके भी मन में अपने समाज और राष्ट्र के प्रति थोड़ी सी टीस है, उन्हें निरक्षरता को दूर करने के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न करने चाहिए। कितनी ही बड़ी जनसंख्या अशिक्षित क्यों न हो, लेकिन विश्व की स्थिति को देखते हुए अब लोगों के मूल्यांकन का मापदंड बदल चुका है। पहले कभी जाति-पाँति, वर्ण, रूप-रंग और कुल-वंश के कारण किन्हीं लोगों को प्रतिष्ठा मिलती रही हो, लेकिन अब वे आधार नष्ट हो चले। अब शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति ही सम्मान पाते हैं। सार्वजनिक प्रतिष्ठानों और सेवा संस्थाओं की व्यवस्था पढ़े-लिखे योग्य व्यक्तियों के हाथ में ही सौंपी जाती है। बुद्धिजीवी और श्रमिक, अफसर और चपरासी, साहूकार और किसान के जीवन तथा प्रतिष्ठा में जो अंतर दिखाई देता है, उसका

मूल कारण शिक्षा ही है। ऊँचे सरकारी पदों पर प्रशासनिक उत्तरदायित्वों को सँभालने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त प्रशिक्षित व्यक्ति ही नियुक्त किए जाते हैं। इंजीनियरों, वकीलों, डॉक्टरों तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों के व्यवस्थापकों की आय ठेला, रिक्शा चलाने वाले कुलियों और मजदूरों की दैनिक आमदनी से कई गुना अधिक होती है। इसका एकमात्र कारण शिक्षा और अशिक्षा है।

शिक्षा का व्यापक प्रसार होने पर स्थिति में स्थूल परिवर्तन नहीं हो जाएगा कि मजदूर नहीं रहेंगे अथवा बुद्धिजीवी नहीं होंगे। समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को देखते हुए कार्यक्षेत्रों का यह विभाजन क्रम तो यथावत रहेगा, लेकिन शिक्षा प्रसार के साथ जो जागरूकता आएगी वह लोगों में आत्मविश्वास उत्पन्न करेगी, उनके मन में से भीरुता का निराकरण करेगी और लोगों के मन-मस्तिष्क को जकड़े हुए विश्वासों, विचारों और मान्यताओं पर पुनर्दृष्टि डालने की क्षमता विकसित करेगी। जिससे समाज व्यवस्था में परिवर्तन की एक नई प्रक्रिया आरंभ हो सकेगी। स्मरणीय है, संसार के जितने भी देशों में कोई सामयिक अथवा स्थायी परिवर्तन हुए हैं, उनमें शिक्षित और विचारशील व्यक्तियों ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इसके विपरीत अशिक्षा व्यक्ति और समाज दोनों के ही विकास में बाधक है, उन्नति के मार्ग में रोड़ा है। हमारे पतन और दुःख की जड़ में अशिक्षा ही है। अंधविश्वास, भेदभाव, छुआछूत और कुप्रथाओं में जकड़ा हुआ भारतीय समाज अशिक्षा के कारण उन बंधनों को खोलने नहीं देता। इस कारण निरक्षर-अशिक्षित लोग न प्रगतिशील विचारों को समझ पाते हैं, न ही अपने नागरिक अधिकारों को जान पाते हैं। इस प्रकार समाज की, राष्ट्र की सर्वतोमुखी

उन्नति की योजनाएँ अधर में ही लटकी रहती हैं। इस स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा का प्रसार करने के लिए व्यापक स्तर पर साक्षरता अभियान आयोजित किए जाएँ और निर्धनता को शिक्षाप्राप्ति के मार्ग में बाधक नहीं बनने दिया जाए। शिक्षा के महत्त्व को इस प्रकार समझाया और लोगों को हृदयंगम कराया जाए कि पेट काटकर भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए तत्पर हो उठें।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्साही और सेवाभावी व्यक्तियों को घर-घर घूमते हुए शिक्षा का महत्त्व समझाना चाहिए। जो लोग सोचते हैं कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद उनके लड़के-बच्चे निकम्मे हो जाएँगे, उनका यह भ्रम दूर किया जाना चाहिए। दीवारों पर विचारोत्तेजक वाक्य, कैलेंडर, पोस्टरों आदि में अशिक्षा के दोषों और शिक्षा के लाभों का आकर्षक ढंग से प्रचार करना चाहिए। स्कूल जाने वाले बड़े विद्यार्थियों द्वारा अपने गाँवों में गरमी की छुट्टियों के समय 'स्कूल चलो अभियान' चलाया जा सकता है। शिक्षकों द्वारा भी बड़े और लंबे अवकाशों के समय शिक्षा-प्रसार में सहयोग दिया जाना चाहिए। वेतन का लोभ छोड़कर छुट्टियों में ज्ञानयज्ञ के लिए हाथ बटाना एक बहुत ही पुण्य कार्य हो सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि मनुष्य को पशु श्रेणी से उठाकर मनुष्य स्तर तक पहुँचाने में केवल शिक्षा ही सहायक सिद्ध हो सकती है। विद्या ज्ञानशक्ति का, योग्यता संपादन का स्रोत है। वही चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करती है। इस समय अपने देश के सामने निरक्षरता एक बहुत बड़ी चुनौती है। जब तक एक भी व्यक्ति अपने देश में निरक्षर रहता है, तब तक प्रत्येक साक्षर व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि यह अपने राष्ट्र पर कलंक का धब्बा है।

अध्यापक अपने गुरुत्तर दायित्व समझें

किसी भी समाज के अध्यापक का अपना विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान होता है। पुरानी और नई पीढ़ी के मध्य वह न केवल एक सेतु का कार्य करता है, वरन आने वाली पीढ़ी को कल के समाज का नेतृत्व सँभालने और उसके गंभीर उत्तरदायित्वों का वहन करने योग्य भी शिक्षक ही बनाता है। यह ठीक है कि किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके अपने पुरुषार्थ और अपनी साधना के बल पर ही होता है, किंतु मार्गदर्शन, शिक्षण का भी अपना महत्व है। अध्यापक नई पीढ़ी के शिक्षण और मार्गदर्शन का कार्य करता है, इसलिए समाज में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीनकाल में इसीलिए बालक को शिक्षा दी जाती थी—‘आचार्य देवो भव’ अर्थात् जो तुम्हारा शिक्षण करता है उसे देवता मानकर सम्मान दो।

अध्यापक या शिक्षक को यह सम्मान देने की व्यवस्था अकारण ही नहीं की गई थी। वास्तव में समाज को विकसित करने में उस समय के आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहता था। उनके महान दायित्वों को देखकर ही समाज में उन्हें यह प्रतिष्ठा दी जाती थी।

अध्यापकों का महत्व आज के युग में भी कम नहीं हुआ है। भले ही वे स्वयं को एक वेतनभोगी कर्मचारी और समाज का उपेक्षित अंग समझते हों। किंतु इससे इनका महत्व या दायित्व कम नहीं हो जाता। शिक्षा का अर्थ आजकल वह नहीं रहा जो प्राचीनकाल से समझा जाता था, अर्थात् व्यक्ति के समग्र विकास की आवश्यकता। यह आजकल प्रचलित शिक्षापद्धति से न तो पूरी होती है और न अध्यापक अपने इस महान दायित्व को समझते हैं।

यदि समझते भी हैं तो उसे अनुभव नहीं करते। उनकी दृष्टि में अध्यापक का वैसा ही कार्य है जैसा कि किसी क्लर्क या ऑफिस कर्मचारी का काम। स्कूल के घंटों में अपनी ड्यूटी पूरी कर देने, नियत समय तक ब्लैकबोर्ड पर कुछ लिखकर बता देने, पुस्तक पढ़कर सुना देने अथवा उसकी व्यवस्था कर देने भर को ही अध्यापक अपना काम समझते हैं। काम ही नहीं व्यवसाय, जिसके बदले उन्हें प्रतिमाह एक निश्चित रकम वेतन के रूप में मिल जाती है। वे समझते हैं कि स्कूल में जाकर हम पढ़ा देते हैं, चार-पाँच घंटे पढ़ाने के बाद हमारा दायित्व पूरा हो जाता है। उसके बाद विद्यार्थी से हमारा कोई संबंध नहीं रहता और न ही हमारी कोई जिम्मेदारी।

कुछ घंटों केवल पढ़ा देने पर से कर्तव्य पूरा हो जाने तथा साल में बहुत सी छुट्टियाँ मिलने के कारण, बहुत से व्यक्ति यह समझते हैं कि अध्यापन सबसे सरल व्यवसाय है और सबसे आराम की नौकरी है। जिसमें काम कम और आराम ज्यादा मिलता है। अध्ययन के प्रति इस उथले दृष्टिकोण के कारण शिक्षण जैसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक-राष्ट्रीय आवश्यकता को जहाँ व्यवसाय का रूप मिलता है, वहीं अध्यापक की गरिमा भी कम हुई है।

अध्यापन न तो कोई व्यवसाय है और न बच्चों को अक्षर-ज्ञान, विविध जानकारीयों प्राप्त करा देने जैसा साधारण कार्य है। यदि अक्षरज्ञान को ही शिक्षण की संज्ञा दे दी जाए तो इस स्तर का शिक्षण दो-चार महीने में ही पूरा किया जा सकता है। यदि विविध जानकारीयों को इकट्ठा कर विद्यार्थियों के सामने ही प्रस्तुत कर देना अध्यापक का कार्य हो तो वह कार्य पुस्तकों के द्वारा भी संभव हो सकता है। इसके लिए वर्षों तक स्कूल जाना और प्रतिदिन घंटों मगजपच्ची करना अनावश्यक है, लेकिन दुर्भाग्य से अध्यापन का

यही अर्थ लगाया जाता है और शिक्षक का कार्य इतना भर समझा जाता है। शिक्षा और शिक्षक के महत्त्व तथा दायित्व को इतने क्षुद्र दायरे में ही सीमित कर देना न केवल अनुचित है वरन उससे कई हानियाँ भी हैं। विद्यार्थी और अध्यापक के औपचारिक संबंध, छात्रों द्वारा अध्यापकों की अवहेलना तथा शिक्षकों के द्वारा अपने विद्यार्थियों के सामने अपनी गरिमा न रखना, छात्र-अध्यापक के संबंधों में तनाव, तज्जनित आक्रोश, छात्रों की उद्दंडता और शिक्षकों की कुढ़न आदि कई दुःस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इस कारण कि उनके आपसी संबंध घनिष्ठ और एकदूसरे के प्रति उत्तरदायित्व के नहीं बन पाते।

यद्यपि आजकल की समूची शिक्षा व्यवस्था ही दोषपूर्ण है। आवश्यकता उसमें आमूल-चूल परिवर्तन करने की है। इसका शुभारंभ अध्यापकों द्वारा अपना महत्त्व समझने तथा विद्यार्थियों के प्रति उत्तरदायित्व अनुभव करने से होना चाहिए। प्राचीनकाल में हमारे देश में अध्यापकों को गुरु कहा जाता था। बच्चे जैसे ही कुछ बड़े होते और थोड़ा-बहुत सोचने-समझने लगते, उनका वेदारंभ संस्कार करा दिया जाता और उन्हें योग्य गुरु के संरक्षण में किसी आश्रम में भेज दिया जाता था। बालक आश्रमों में ही अपना सारा समय व्यतीत करता था। उस आश्रम का वातावरण इतना परिष्कृत और स्नेहपूर्ण रहता था कि बच्चों को वहाँ रहकर अपने माता-पिता की कभी याद भी नहीं आती थी। आश्रम के कुलपति-आचार्य के सान्निध्य में रहकर, उनका स्नेहपीयूष पीकर और उनके ज्ञान व अनुभव से अपने व्यक्तित्व के कंचन को तपाकर निकलता था। गुरुकुलों से विदा होते समय छात्र इस योग्य हो जाते थे कि वे अपने पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक

निभा सकें। बचपन में कोरे कागज की तरह गुरुकुल भेजे जाने वाले छात्र गुरुकुल से लौटते समय जीवनोपयोगी सभी विद्याओं में पारंगत और चरित्र तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से एक श्रेष्ठ नागरिक बन जाते थे। इस सब का श्रेय उस समय गुरुकुल के आचार्यों को ही दिया जाता था और वे सारा समय विद्यार्थियों को योग्य बनाने में व्यस्त रहते थे।

उस समय के अध्यापकों या कि गुरुओं का स्वरूप एक तपस्वी, वत्सलतापूर्ण अभिभावक और व्यक्तित्व के माध्यम से शिक्षा देने वाले ऋषि का होता था, न कि कोई लौकिक आकर्षण। उस व्यवस्था को ज्यों का त्यों पुनः लौटाया नहीं जा सकता, परंतु जिन आदर्शों के आधार पर वह व्यवस्था संचालित होती थी उन्हें तो स्थापित किया ही जा सकता है। आज के युग में आर्थिक आवश्यकताओं की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पहले गुरुकुलों की व्यवस्था जन सहयोग से ही चलती थी। सहज श्रद्धा से प्रेरित होकर सम्मानपूर्वक लोग जो कुछ देते थे, उसके अतिरिक्त अपने छात्रों को साथ लेकर श्रम द्वारा जीवनोपयोगी आवश्यकताओं का उत्पादन किया जाता था। अब छात्रों का शिक्षण अध्यापक करते हैं और अध्यापकों का निर्वाह उन्हें मिलने वाले वेतन से चलता है। प्राचीनकाल में शिक्षकों, गुरुओं द्वारा इस संबंध में कोई बहुत बड़ी आर्थिक अपेक्षाएँ नहीं की जाती थीं। विलासिता के स्थान पर सादगी, सुविधाओं के स्थान पर तपस्वी जीवन ही उनका आदर्श होता था।

अध्यापकों का आदर्श भी यही होना चाहिए। उन्हें साधनों, सुविधाओं की माँग करने, वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने के स्थान पर अपनी गरिमा को सार्थक करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

संपन्न जीवन व्यतीत करने के लिए औरों की देखा-देखी प्रतिस्पर्द्धा और भाग-दौड़ में ही अपनी शक्तियाँ लगाई जाती रहें तो फिर मूल उद्देश्य क्षीण हो जाता है। साधन-सुविधाएँ बढ़ा लेने पर दूसरों की दृष्टि में बड़ा आदमी भले ही बना जा सके पर उससे अपने महान दायित्व को पूरा करने में कोई सहायता मिलने की अपेक्षा अवरोध ही ज्यादा खड़े होते हैं, वैसे भी अध्यापकों को कोई ज्यादा वेतन नहीं मिलता। यदि धन संबंधी आवश्यकताओं का विस्तार किया गया तो उसके लिए दूसरे उपाय काम में लेने पड़ेंगे। स्वाभाविक ही वैसी दशा में मुख्य कर्त्तव्य से ध्यान हटेगा और उसका परिणाम अच्छा होगा, यह आशा नहीं की जा सकती। अध्यापकों को यह मानकर चलना चाहिए कि उन्हें अपने छात्रों को लैक्चर द्वारा संबंधित विषयों की जानकारी भर नहीं देना है, बल्कि अपने आचरण और रहन-सहन द्वारा उनके सामने एक आदर्श रखना है, जिससे वे प्रेरणा ले सकें। वस्तुतः कहने-सुनने का इतना प्रभाव नहीं होता जितना कि अपने व्यक्तित्व के माध्यम से बताने का। अध्यापक यदि अपने चरित्र और व्यक्तित्व द्वारा भी छात्रों को शिक्षा दे सकें तो सुयोग्य नागरिकों के निर्माण की आवश्यकता तो पूरी होगी ही, छात्रों की दृष्टि में भी अध्यापक का स्थान ऊँचा उठेगा और उन्हें श्रद्धा मिलेगी।

बहुत से शिक्षक अपने छात्रों के सामने ही ऐसी हीन हरकतें करते रहते हैं, जिससे उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है। माता-पिता के बाद बच्चा बाहर के किसी बड़े व्यक्ति के संपर्क में आता है तो वह अध्यापक ही है। छोटे बच्चे अध्यापकों को उसी श्रद्धा और सम्मान से देखते हैं परंतु बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वह बड़े लोगों के आचरण को अपने विवेक की कसौटी पर

कसने लगता है तो प्रायः शिक्षक के प्रति श्रद्धा भावना पर ठेस ही पहुँचती है। इन दिनों छात्रों में अनुशासनहीनता और उद्दंडता की वृत्तियाँ भी अधिकांशतः ऐसे कारणों से ही उत्पन्न होती हैं कि उनके सामने ऐसा कोई व्यक्तित्व नहीं होता जिसके प्रति वे श्रद्धा रख सकें।

शिक्षक स्वयं अपने प्रति छात्रों में श्रद्धा उत्पन्न करें। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि अभिभावक भी उनके प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार करें। देखा जाता है कि साधारण सी बातों पर छात्र को झिड़क देने पर उनके माँ-बाप ही अध्यापकों का अपमान करने पर तुल जाते हैं। यदि अध्यापक ने छात्र को डाँटा-फटकारा भी है तो किसी दुर्भावना से ऐसा नहीं किया होगा, यह विचार करना चाहिए। समझना चाहिए कि अध्यापक ने छात्र को किसी गलती पर उसके हित के लिए ही सख्ती की होगी। किंतु स्वयं अभिभावकों का दृष्टिकोण इस संबंध में साफ नहीं रहता। वे समझते हैं कि अध्यापक एक राजकीय कर्मचारी है जिसे सरकार से वेतन मिलता है। हमारा बच्चा स्कूल में पढ़ने जाता है, हम उसकी पढ़ाई के लिए फीस देते हैं। इससे अधिक विद्यालय से और अध्यापक से हमारे बच्चे का कोई संबंध नहीं है।

दोनों पक्षों द्वारा-अध्यापकों, छात्रों और उनके अभिभावकों द्वारा अपनाए जाने वाली इन भ्रांत धारणाओं के कारण अध्यापक को समाज में समुचित स्थान नहीं मिल पाता। प्राचीनकाल में अध्यापक अथवा आचार्य आर्थिक दृष्टि से कोई बड़ा लाभ नहीं उठाते थे, परंतु उन्हें शिष्यों से तथा अन्य नागरिकों द्वारा भरपूर सम्मान मिलता था। छात्र तो उनके चरणों में हमेशा नत रहते ही थे, माता-पिता भी उनकी सेवा-पूजा करते थे। उस समय समाज में

गुरु को, आश्रम के अधिष्ठाता को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। जब कि आज के युग में अध्यापक बहुत ही उपेक्षित व्यक्ति है। अध्यापकगण स्वयं अपना महत्त्व और दायित्व समझें, इसके साथ-साथ समाज का भी आवश्यक कर्तव्य है कि वह शिक्षण और शिक्षक को समुचित सम्मान और प्रतिष्ठा दे।

सत्साहित्य का प्रसार

समय की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता

विज्ञान ने अपने इस युग में ऐसी अनेक सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं, जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जाती थी। इन सुविधा-साधनों के परिणामस्वरूप पुस्तकों का प्रसार पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया है। अन्य क्षेत्रों में विज्ञान की कृपा से जो सुविधाएँ उपलब्ध हुईं सो ठीक, एक अकेले पुस्तकों का प्रसार ही इतनी बड़ी सुविधा है कि ज्ञान की किसी भी धारा से कभी भी, किसी भी क्षण संबंध स्थापित किया जा सकता है। अब से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व जब पुस्तकें इतनी सरलता से उपलब्ध नहीं थीं, तब लोगों के पास ज्ञानार्जन का एक ही मार्ग उपलब्ध था—सत्पुरुषों का सत्संग। यद्यपि यह मार्ग सदैव सुलभ नहीं था, पर इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं था ज्ञानप्राप्ति का। इस दृष्टि से अपने समय में वह सौभाग्य उपस्थित हुआ मानना चाहिए कि पुस्तकें प्रचुर मात्रा में हर कहीं सरलता से उपलब्ध हैं।

प्रेस की सुविधा और लोगों में शिक्षा का प्रसार होने के कारण पुस्तकों के मुद्रण-प्रकाशन का और विक्रय-वितरण का बहुत बड़ा क्षेत्र खुला है। पहले एकाध पुस्तकें तैयार भी होती थीं तो उसे तैयार करने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ता था। एक व्यक्ति हफ्तों

और महीनों तक नकल करने बैठता था, तब कहीं जाकर एक पुस्तक की दूसरी प्रति तैयार होती थी। उसमें भी लिखने वाले का ध्यान कहीं बँटता तो पुस्तक की सही प्रतिलिपि तैयार नहीं हो पाती थी। अब ऐसा श्रम नहीं करना पड़ता है। यह सुविधा पिछले दो सौ वर्षों से ही उपलब्ध हुई है और इन दो सौ वर्षों के पूर्व कोई भी पुस्तक इतनी प्रचलित नहीं हुई जितनी कि इस अवधि में। अकेले 'रामचरितमानस' ही इन दिनों इतनी अधिक लोकप्रिय हुई है कि इसकी लाखों-करोड़ों प्रतियाँ तैयार की जा चुकी हैं। यह प्रेस और प्रकाशन की सुविधा उपलब्ध होने के कारण ही संभव हो सका है, अन्यथा जिन दिनों प्रेस नहीं थे, उन दिनों लोगों के पास रामचरितमानस की कुछ सौ प्रतियाँ ही रही होगीं और उन्हीं का उपयोग किया जाता रहा होगा। कहने का आशय यह कि विज्ञान की सहायता से लोगों को ज्ञान-विज्ञान के साधन भी सहजता से उपलब्ध हुए हैं और पुस्तकें बहुत सस्ते में सरलता से प्राप्त होने लगी हैं।

यह एक पक्ष हुआ। इसका दूसरा पक्ष भी है और वह यह कि प्रेस तथा प्रकाशन की सुविधा से एक प्रकार से अनर्थ भी हुआ है। अनर्थ इसलिए कि इस सुविधा का लाभ उठाकर कई व्यावसायिक मनोवृत्ति के लोग साहित्य के माध्यम का दुरुपयोग करने लगे। इस मनोवृत्ति के कारण बाजार में मनोरंजन के लिए निकृष्ट स्तर का साहित्य प्रचुर मात्रा में आ रहा है तथा बहुधा दिग्भ्रान्त करने वाला साहित्य लोगों की रुचि को विकृत बना रहा है। मनोरंजन के लिए लोग भी सहज ही इस ओर झुक जाते हैं। जैसा कि देखा जाता है अधिकांश व्यक्ति स्वास्थ्यवर्द्धक फलों और खाद्य पदार्थों की अपेक्षा चाट-पकौड़े, चाय, सिगरेट आदि का शौक पाल लेते हैं। कारण

कि इनसे चटपटा खाने की अभ्यस्त चटोरी जीभ को तृप्ति मिलती है। उसी प्रकार लोग ज्ञानवर्द्धक, रुचिपूर्ण और जीवन में सतृप्तियों का अभिवर्द्धन करने वाले साहित्य की अपेक्षा उत्तेजक, सस्ता मनोरंजन करने वाली पुस्तकें ज्यादा पढ़ते हैं, इस प्रकार की कुत्सित पुस्तकें लोकप्रिय होने और उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए कौन जिम्मेदार है? यह एक अलग प्रश्न है। किंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस प्रकार की पुस्तकें सरलता से उपलब्ध होती हैं, इसलिए लोगों का आकर्षण और रुझान इस ओर सहज ही हो जाता है।

घटिया स्तर का साहित्य सरलता से उपलब्ध होने के कारण सबसे बड़ा अनर्थ यह हुआ है कि पढ़ने का उद्देश्य मात्र मनोरंजन ही मान लिया गया है। जबकि साहित्य का वास्तविक उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन और जीवन उत्कर्ष की प्रेरणा देना तथा मार्गदर्शन करना है। मनोरंजक साहित्य पढ़ने का उद्देश्य हो सकता है, पर उसकी एक सीमा है। मात्र मनोरंजन के अलावा, उससे भी बड़ा उद्देश्य साहित्य का यह है कि ज्ञान और अनुभव का क्षेत्र बढ़े, मनुष्य की चेतना, उन्नत और परिष्कृत हो तथा उसे अपने विकास की दिशा मिले। ओछे स्तर का, घटिया और कुत्सित साहित्य 'ज्ञान और मानवता' का अपमान करने वाला है। साहित्य का अर्थ ही यह है कि जो अधिक से अधिक हित करे। किंतु इस विडंबना को क्या कहें कि सस्ती और विकृत रुचि को उभारने-भड़काने वाली पुस्तकों को भी साहित्य की संज्ञा दी जाती है। इस घटिया स्तर के साहित्य और जीवंत प्रेरणा देने वाले साहित्य का अंतर स्पष्ट करने के लिए हम व्यक्तित्व को उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर करने वाले साहित्य को 'सत्साहित्य' के नाम से संबोधित करेंगे।

सत्साहित्य का अध्ययन, जीवन के उत्कर्ष और आनंद की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार कि जीवन रक्षा और शरीर-निर्वाह के लिए भोजन। अन्य प्राणी अपना स्वाभाविक आहार प्राप्त कर ही शरीर का पोषण और जीवनयापन कर लेते हैं, किंतु मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, इसलिए उसे शरीर का पोषण प्राप्त करने के साथ बुद्धि का, चेतना का पोषण भी चाहिए। अपने अस्तित्व की रक्षा और व्यक्तित्व के विकास के लिए सत्साहित्य का विस्तार तथा प्रसार भी आवश्यक है। समस्या यह है कि बाजारू घटिया स्तर के साहित्य की प्रतिस्पर्धा में सत्साहित्य को किस प्रकार लोकप्रिय बनाया जाए?

प्रथम तो लोगों में पढ़ने के प्रति उपेक्षा का भाव ही हटाना होगा, जो यह कहकर पढ़ने की आवश्यकता व्यर्थ बता देते हैं कि पढ़कर हमें विद्वान नहीं बनना है। पढ़ना तो विद्यार्थियों का काम है। अपने आस-पास के, अपने संपर्क में आने वाले व्यक्ति जब ऐसा कहते दिखाई दें तो उन्हें समझाया जाना चाहिए कि यह सोचना अपने विकास के आधार को नष्ट कर देना है। स्कूलों में पढ़कर आवश्यक बातें सीखी और जरूरी जानकारीयाँ प्राप्त की जाती हैं। स्कूल, कॉलेज छोड़ देने के बाद पुस्तकों से संबंध तोड़ देना आत्मघाती प्रक्रिया है। यह ठीक वैसा ही है जैसे बचपन में पौष्टिक आहार प्राप्त करने के बाद भोजन लेना ही बंद कर दिया जाए। बचपन की आयु विकास और बढ़ाव की अवस्था होती है। इस आयु में शरीर का अंग-अंग बढ़ता और पुष्ट होता है, इसलिए बचपन में पौष्टिक आहार चाहिए। किंतु शरीर की बढ़ एक आयु सीमा पर पहुँचने के बाद रुक जाती है। पोषण की आवश्यकता तो उसके बाद भी पड़ती है। शरीर-निर्वाह के लिए उसके बाद भी

खाने-पीने, सोने-जागने की नियमित क्रमबद्ध व्यवस्था करनी पड़ती है। स्कूली पढ़ाई को बचपन में मिलने वाला पौष्टिक आहार कहा जा सकता है। उसके बाद अध्ययन की व्यवस्था को अनावश्यक नहीं ठहराया जा सकता।

अस्तु, शिक्षा पूरी कर लेने के बाद भी पुस्तकों से, सत्साहित्य से नियमित संपर्क रखना चाहिए और अपनी बौद्धिक क्षुधा को तृप्त करना चाहिए। सत्साहित्य की उपेक्षा करने वालों को यह तथ्य भलीभाँति समझाया और बताया जाना चाहिए कि पुस्तकों से संपर्क तोड़ देने के बाद पढ़ी हुई विद्या भी विस्मृत हो जाती है। कहीं भी और कभी भी यह देखा जा सकता है कि अध्ययन का क्रम बंद कर देने के बाद पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाने के तथ्य से अवगत होने के कारण प्रत्येक विचारशील नियमित अध्ययन का क्रम बनाए रखते हैं। वकील और डॉक्टर, राजनेता और पत्रकार, विद्वान और विचारक, चिंतक एवं दार्शनिक प्रतिदिन घंटों स्वाध्याय करते हैं; क्योंकि संसार में निरंतर नए-नए विचार, नए-नए तथ्य, नया-नया ज्ञान उपलब्ध और विकसित हो रहा है। यदि साहित्य से संपर्क तोड़ दिया जाए तो पता ही नहीं चलता कि कहाँ क्या हो रहा है? कौन सी पुरानी मान्यताएँ बदल रही हैं? आज की परिस्थितियों में कौन से समाधान किन समस्याओं के लिए व्यावहारिक हैं? कौन-सी नई प्रतिस्थापनाएँ हो रही हैं? आदि बातों का ज्ञान अध्ययन की नियमित क्रम व्यवस्था बनाए रहने से ही संभव होता है। जो साहित्य और समकालीन प्रतिपादनों-घटनाओं की जानकारी रखते हैं, वे ही यह निश्चित कर पाते हैं कि इस बदलती परिस्थितियों में उनका क्या स्थान है और क्या कर्तव्य है? किसी भी व्यक्ति के लिए जागरूक नागरिक की भूमिका निभा पाना तभी संभव है,

जबकि उसे अपने आस-पास होते रहने वाले परिवर्तनों और चारों ओर होने वाली हलचलों का ज्ञान हो।

आज की परिस्थितियाँ तो और भी विषम हैं। समूची विश्व मानवता एक निर्णायक बिंदु पर खड़ी है। विकास और विनाश की दोनों ही संभावनाएँ हैं। ये संभावनाएँ तो निरंतर रहती हैं, परंतु वर्तमान समय में मनुष्य एक ऐसे कगार पर खड़ा है, जहाँ इस पार या उस पार वाली स्थिति है। अब यथास्थिति देर तक नहीं बनी रह सकती। इस निर्णायक दौर को उज्ज्वल संभावनाओं में परिणत करने के लिए ही महाकाल की प्रज्ञा प्रेरणा जागरूक आत्माओं को झकझोर रही है तथा उन्हें कुछ करने के लिए कचोट रही है। क्या किया जाना चाहिए? यह स्पष्ट है। मानवीय चेतना और चिंतन में घुस पड़ी विकृतियों को नष्ट कर सुखद सत्प्रवृत्तियों की आस्था विकसित करना ही इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सत्साहित्य से नियमित संपर्क एक सशक्त माध्यम है और यह माध्यम प्रत्येक जागरूक एवं विचारशील व्यक्ति तक ही नहीं, हर उस व्यक्ति तक पहुँचाना व उसे अपनाने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जो थोड़ा पढ़ा-लिखा और शिक्षित है।

यह एक ध्रुवसत्य है कि सत्साहित्य एक विकसित मस्तिष्क होता है। इन्हें महापुरुषों के, महान विचारकों के मस्तिष्क का सुरक्षित कोश समझा जाना चाहिए। मिल्टन ने इसी तथ्य को इंगित करते हुए कहा है—“अच्छी पुस्तक एक महान आत्मा का जीवन रक्त है क्योंकि उसमें उनके जीवन के विचार और अनुभवों का सार निहित है।” व्यक्ति तो मर जाते हैं लेकिन ग्रंथों में उनकी आत्मा बसती है, इसलिए ग्रंथों को सजीव महापुरुष भी कहा जा सकता है। प्रसिद्ध

विचारक डब्लुलटन ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—“ग्रंथों में आत्मा होती है, सद्ग्रंथों का कभी नाश नहीं होता।”

कहना यही होगा, सत्साहित्य सद्विचारों और सद्भावनाओं को जाग्रत करता है। अटल विचार, उदात्त भावनाएँ और भव्य कल्पनाएँ जहाँ भी हैं, वही स्वर्ग का-सा वातावरण बनता है और सत्साहित्य से संपर्क न होने के कारण व्यक्ति उस ज्ञानराशि से वंचित रह जाता है, फलतः उसका मानसिक अस्तित्व निष्प्राण हो जाता है। इसलिए सिसरो ने कहा है—“ग्रंथ रहित कमरा देह रहित आत्मा के समान है।” जीवन को विकास और प्रगति की दिशा में अग्रसर करने के लिए पुस्तकों का साथ होना आवश्यक है। क्योंकि सद्ग्रंथों के द्वारा ही जीवन का मार्गदर्शक प्रकाश-स्रोत मिलता है। संसार के भीषण सागर में डूबते-उतराते सभी मनुष्यों के लिए पुस्तकें उस प्रकाश-स्तंभ की तरह सहायक होती हैं जैसे समुद्र में चलने वाले जहाजों के मार्ग दिखाने के लिए प्रकाश गृह।

महात्मा गांधी ने कहा है—“अच्छी पुस्तकें पास होने पर हमें मित्रों की कमी नहीं खटकती। वरन मैं जितना अध्ययन करता हूँ, अच्छी पुस्तकें मुझे उपयोगी मित्रों की तरह मिलती हैं।” मनुष्य का ज्ञान, संसार की ज्ञानराशि असंख्य अनेकताओं से भरी पड़ी है। मनुष्य का अपना स्वयं का मस्तिष्क ही इतने अधिक विचारों से भरा रहता है कि उसमें क्षण-क्षण नए विचारों की लहर उठती है। ये लहरें भिन्न-भिन्न और विलक्षण होती हैं। इन विभिन्नताओं के रहते अंतर्जगत और बाह्य जीवन में अनेक संघर्ष उठते रहते हैं। इन संघर्षों से बचने अथवा विचार संग्राम में जीतने के लिए अच्छी पुस्तकें प्रभावशाली अस्त्र सिद्ध होती हैं। एक व्यक्ति का ज्ञान, अनुभव और चिंतन का स्वरूप एकांगी ही हो सकता है, लेकिन सद्ग्रंथों का

अध्ययन अपनी समस्याओं, अंतर्द्वंद्वों और परिस्थितियों का समाधान स्वयं खोजने की क्षमता विकसित करता है।

अस्तु; प्रत्येक विचारशील और समझदार व्यक्ति को स्वयं अध्ययनशील तो होना ही चाहिए, अपने निकटवर्ती जनों को भी अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करते रहना चाहिए। उचित तो यह है कि जीवनयापन और निर्वाह के लिए जिस प्रकार अन्यान्य आवश्यक वस्तुओं को क्रय करने की व्यवस्था अपने घरेलू बजट में की जाती है, उसी प्रकार पुस्तकों के लिए भी अपने बजट में एक मद रखनी चाहिए। कपड़े, भोजन और मकान की तरह ही पुस्तकों को भी जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता समझकर उसके लिए व्यवस्था की जाए।

सत्साहित्य के प्रति उपेक्षा भाव ही वह कारण है, जिसके रहते लोग सिनेमा-थियेटर, नाच-रंग, शौक-मौज, सिगरेट, चाय और अन्यान्य बातों के लिए फजूलखरची करते हैं, जबकि पुस्तकों के लिए महँगाई का बहाना आड़े आ जाता है। महँगाई बढ़ने और निर्वाह व्यय अधिक होते जाने की बात सच है, किंतु इस कारण शौक-मौज की आदतों के लिए खरच में कटौती की जानी चाहिए न कि सत्साहित्य को खरीदने और पढ़ने में। इसे जीवन की आवश्यकता समझ ली जाए और पूरा करने के लिए तत्पर हो जाया जाए तो महँगाई तथा कीमतों में बढ़ोतरी के कारण जीवन निर्वाह व्यय महँगा हो जाने जैसी बात पुस्तकें खरीदने तथा घर में एक अच्छा सुरुचिपूर्ण पुस्तकालय बनाने के लिए कोई बाधा अड़चन नहीं आनी चाहिए, न आती है।

अच्छी पुस्तकें खरीदने और घर में छोटी सी घरेलू लाइब्रेरी बनाने के साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल कमरे को सजाने अथवा घर में प्रदर्शनी लगाने जैसा ही प्रयोजन

उनसे पूरा नहीं किया जाए, बल्कि उनके नियमित अध्ययन को भी जीवन क्रम में सम्मिलित रखा जाए।

पुस्तकों का चयन करने में बड़ी सतर्कता और सूझ-बूझ का उपयोग किया जाना चाहिए। कारण कि विचार एक शक्ति है और शक्ति जीवन को ऊँचा भी उठा सकती है, उत्कर्ष की दिशा में भी अग्रसर कर सकती है तो नीचे भी गिरा सकती है और पतन के गर्त में भी धकेल सकती है। यह पुस्तकों के चयन पर निर्भर करता है कि अपना संपर्क कैसे विचारों से है। यदि उत्कृष्टता, प्रगतिशीलता की प्रेरणा देने वाला सत्साहित्य अध्ययन के लिए चुना गया है तो उसके सत्परिणाम सुनिश्चित हैं और यदि निकृष्ट-घटिया साहित्य पढ़ने के लिए चुना गया तो पतन तथा प्रतिगामिता का खतरा भी सामने प्रस्तुत है। अतः अध्ययन और पठन के लिए ऐसा ही साहित्य चुना जाना चाहिए जो आगे बढ़ने में सहायक सिद्ध हो, उत्कर्ष की प्रेरणा दे। अच्छे विचारों, सद्भावनाओं और सत्प्रेरणाओं को जाग्रत करने की शक्ति केवल सत्साहित्य में ही है। साहित्य में ही वह शक्ति है कि जीवन दिशा को मोड़कर, समाज का वातावरण बदलकर समाज की रूपरेखा को बदल देता है। इसलिए विचारकों और मनीषियों ने कहा है—“किसी भी समाज की शक्ति और योग्यता की परख उसके साहित्य से होती है।” जीवन में उत्कर्ष, व्यक्तित्व का परिमार्जन और समाज का उत्थान यदि अभीष्ट हो तो समझना चाहिए कि आत्मोन्नति का प्रथम प्रयास सफल हो गया।

सद्ज्ञान के अमृत पान से कोई भी वंचित न रहे

अच्छी पुस्तकों को अमूल्य संपत्ति कहा गया है। लेकिन अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान इस अमूल्य संपत्ति के संचय की

ओर नहीं जाता है। जीवन में सुख-सुविधाएँ बढ़ाने वाली वस्तुओं के लिए तो सभी लोग पैसा खर्च करते हैं, उधार करते हैं, ऋण लेते हैं और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। वे आवश्यकताएँ वास्तविक भी हो सकती हैं और कृत्रिम भी। किंतु जीवन में प्रकाश उत्पन्न करने वाली पुस्तकों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। सुख-सुविधाओं के साधन जुटाने के लिए लोग न जाने किस-किस तरह से खर्च करते हैं। परंतु किन साधनों की सुविधाओं के लिए आवश्यकता है? सुख-सुविधाएँ क्या हैं? उन्हें कैसे जुटाया जाना चाहिए? यह दिशा प्रदान करने वाली पुस्तकें उपेक्षित ही कर दी जाती हैं।

पुस्तकों की उपेक्षा का एक बड़ा कारण पुस्तक-प्रेम का अभाव तो है ही, निर्धनता भी एक बड़ा कारण है। इस कारण यह तथ्य समझ में नहीं आता कि पुस्तक पढ़ने की आदत मनुष्य की योग्यता बढ़ाने और क्षमता विकसित करने में बहुत सहायक सिद्ध होती है। इस ओर ध्यान भी जाता है तो दूसरी आवश्यकताएँ इतनी अनिवार्य अनुभव होती हैं कि सारे साधन उसी में खप जाते हैं और पुस्तकों की उपेक्षा ही करना पड़ती है। पिछले दिनों शिक्षा का प्रसार हुआ है, साक्षरता बढ़ी है, इसके साथ होना यह चाहिए था कि पुस्तकों का प्रचार भी होता। किंतु पुस्तक-प्रेम का अभाव कहीं या आर्थिक विवशता, अध्ययन के प्रति रुचि ही जाग्रत नहीं होती।

अच्छी पुस्तकों का प्रचार और विस्तार हो, यह आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रथम चरण पुस्तकों के प्रति रुचि उत्पन्न करने के रूप में उठाया जाना चाहिए। यह कार्य पुस्तकालयों द्वारा बड़ी सरलतापूर्वक किया जा सकता है। पुस्तकालयों के माध्यम से पुस्तक-प्रेम तो जगाया ही जा सकता है,

उनके द्वारा आर्थिक साधनों के अभाव से उत्पन्न हुई पुस्तकों को न अपना पाने की समस्या भी हल हो सकती है।

किन्हीं व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति ऐसी हो कि पुस्तकों के लिए आवश्यक धन नहीं जुटाया जा सके तो इसके लिए पुस्तकालय की सामूहिक व्यवस्था एक आसान और व्यावहारिक उपाय हो सकता है। रेलगाड़ी की व्यक्तिगत व्यवस्था कोई नहीं कर सकता। ५-७ करोड़ रुपये खर्च कर कोई अपने लिए रेलगाड़ी की व्यवस्था कर भी ले तो उससे सारे देश का भ्रमण कहाँ हो सकता है? उसके लिए तो और रुपये चाहिए। इसलिए रेलों की एक सामूहिक व्यवस्था बनाई गई है। जिन्हें यात्रा करनी होती है, वे टिकट खरीदकर किराये के रूप में चंदा देते रहते हैं। जिससे रेलगाड़ियों, पटरियों, कर्मचारियों तथा अन्यान्य साधनों की व्यवस्था होती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अस्पताल भी नहीं खोल सकता, पोस्ट ऑफिस नहीं चला सकता, अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिए व्यक्तिगत रूप से स्कूल की व्यवस्था नहीं कर सकता। इन कार्यों के लिए इसी कारण सामूहिक व्यवस्था करनी पड़ती है कि उस सामूहिक व्यवस्था से सभी लोग लाभ उठाते हैं। इस प्रकार रेलगाड़ी, मोटर, अस्पताल और पोस्ट ऑफिस आदि के द्वारा लोगों को थोड़े पैसों में यातायात तथा डाक-तार की सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। उसी प्रकार ज्ञानार्जन और सत्साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता भी सामूहिक रूप से पुस्तकालयों द्वारा पूरी की जा सकती है।

यहाँ व्यक्तिगत रूप से पुस्तकों की खरीद को व्यर्थ नहीं बताया जा रहा है। पुस्तकें खरीदना चाहिए और खरीदकर पढ़ना चाहिए। अच्छी पुस्तकें घर की शोभा और व्यक्ति की गरिमा बढ़ाती हैं। घर में जिस प्रकार शोभा-सज्जा के लिए अन्यान्य वस्तुएँ रखी

जाती हैं, उन सबसे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तकों का रखा जाना है। इससे व्यक्ति की सुरुचि संपन्नता और अध्ययनप्रियता की झलक मिलती है। जो उसकी प्रतिष्ठा और स्तर को बढ़ाती ही है। व्यक्तिगत रूप से पुस्तकें खरीदना और अपने घर में निजी घरेलू पुस्तकालय बनाना परिवार को सुसंस्कृत बनाने तथा सुरुचि संपन्न होने का परिचायक है। इस पर भी प्रत्येक व्यक्ति को पुस्तकालय की स्थापना से लेकर उससे लाभ उठाने की रीति-नीति अपनानी चाहिए। उन व्यक्तियों को तो विशेष रूप से इस दिशा में रुचि लेना चाहिए जो पुस्तकें खरीदकर निजी पुस्तकालय बनाने की स्थिति में नहीं होते।

पुस्तकालयों की आवश्यकता और उपयोगिता एक व्यक्ति की क्रय शक्ति की सीमा से भी सिद्ध होती है। कोई भी व्यक्ति हजार-पाँच सौ रुपये से अधिक की पुस्तकें नहीं खरीद सकता। सामान्य आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति के लिए इससे अधिक खर्च कर पाना संभव नहीं। किंतु इतने धन से अच्छे स्तर की अधिक से अधिक १००-५० पुस्तकें ही खरीदी जा सकती हैं। स्वाभाविक ही इतनी पुस्तकों का ज्ञान कम और एकांगी होगा। बौद्धिक विकास और चेतना की क्षुधा तृप्ति इतनी सी पुस्तकों से कैसे हो सकेगी? इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कारगर उपाय यही हो सकता है कि स्वयं जितनी पुस्तकें खरीदकर घरेलू पुस्तकालय बना पाना संभव हो, उतनी पुस्तकें खरीदी जाएँ, साथ ही गाँव, नगर, कसबे, मुहल्ले में ऐसे पुस्तकालयों की स्थापना के लिए भी उत्साहपूर्वक कार्य किया जाए कि वहाँ बैठकर तो पुस्तकों का स्वाध्याय किया ही जा सके, पुस्तकें घर ले जाकर पढ़ने की सुविधा भी उपलब्ध रहे।

अपने संपर्क क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति ढूँढ़े जा सकते हैं जिनके गले पुस्तकालयों का महत्व उतारा जा सके और उन्हें इस स्थापना में

योगदान देने के लिए तैयार किया जा सके। यदि सौ व्यक्ति भी ऐसे तैयार हो जाएँ जो दस-दस पुस्तकों का मूल्य चुका सकें तो एक हजार पुस्तकों का सुंदर पुस्तकालय तो तुरंत तैयार किया जा सकता है। बाद में इनकी संख्या बढ़ाते रहा जा सकता है। बहुत से उदार व्यक्ति आर्थिक सहयोग करने के लिए प्रस्तुत हों तो आरंभ में ही इससे ज्यादा पुस्तकें भी एकत्रित की जा सकती हैं।

पुस्तकालय की स्थापना के लिए योगदान जुटाते समय यह समझाया जाना चाहिए कि इनका महत्त्व देव-मंदिरों की तुलना में जरा भी कम नहीं है। पत्थर की प्रतिमा वाले देव-मंदिरों में तो फिर भी बुराइयाँ पनप सकती हैं। प्रायः मंदिरों में अंधविश्वास, पुजारियों की लूट-खसोट और खींचतान होते देखा जाता है। मंदिर टूट-फूटकर गिर जाते हैं तो उनका महत्त्व भी समाप्त हो जाता है और कुछ दिन में लोग यह भी भूल जाते हैं कि यहाँ कोई देव-मंदिर था। मध्य युग में आक्रमणकारियों ने हजारों मंदिर तुड़वा दिए, जिनका अब नामोनिशान तक नहीं है। लेकिन पुस्तकालय नष्ट हो जाने पर भी उनकी आत्मा पुस्तकों के रूप में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व बनाए रहती है, जिनसे लोगों को काफी समय तक प्रकाश व प्रेरणाएँ मिलती रह सकती हैं।

उन्हें यह समझाया जाना चाहिए कि जीवित और दिवंगत मनीषियों ने अपनी संचित उपलब्धियों को पुस्तकों की तिजोरी में सँजोकर रख दिया है। वे चले गए या अपने से दूर हैं, पर उनके द्वारा उपार्जित ज्ञान भंडार हर किसी के लिए हर घड़ी उपलब्ध है। पुस्तकें सफेद कागज पर काली स्याही पोत देने का खिलवाड़ नहीं हैं और न ही उनका मूल्यांकन चुकाई जाने वाली कीमत से आँका जाना चाहिए। यह तो उनके आवरण का मूल्य है। उनके अंतराल

में जो मणिमुक्ता भरे होते हैं, उनका मूल्यांकन धन से तो क्या किसी भी भौतिक वस्तु से नहीं किया जा सकता। अस्तु, इन अमूल्य निधियों को व्यक्तिगत रूप से तो संचित करते ही रहना चाहिए, गाँव, मुहल्ले और नगर में ऐसी व्यवस्था भी करना चाहिए, जहाँ से हर कोई व्यक्ति ज्ञानराशि की इन अमूल्य मणिमुक्ताओं को बटोरकर उनसे लाभ उठा सके।

ऐसे पुस्तकालय भगवान की सच्ची उपासना के केंद्र समझे जाने चाहिए। भगवान का स्मरण केवल उनके नाम और रूप द्वारा ही नहीं किया जाता वरन उनका सच्चा स्मरण उच्चस्तरीय भावनाओं के माध्यम से ही हो पाता है। अच्छे विचार भगवान की भावनात्मक उपासना ही हैं। उनका पठन-अवगाहन किसी भी भजन और पाठ-परायण से कम नहीं वरन अधिक ही महत्त्व रखता है। अतः जिस उत्साह के साथ देव-मंदिरों की स्थापना की जाती है, उसी उत्साह के साथ पुस्तकालयों की स्थापना में भी संलग्न होना चाहिए। विचार-सेवा, ज्ञानदान सबसे बढ़कर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सेवा और दान है। समाजसेवियों और लोकसेवियों को पुण्य-परमार्थ की दृष्टि से पुस्तकालयों की स्थापना को भी महत्त्व देना चाहिए।

किसी व्यक्ति को धर्म-कर्म की प्रेरणा उठती है तो वह मंदिर बनवा देता है। कुछ लोग धर्मशाला या कुआँ-बावड़ी बनवा देते हैं। वृक्ष लगाने, बगीचा बनवाने, सदावर्त चलाने जैसे पुण्यकृत्य संपन्न करके भी लोग स्वर्ग-मुक्ति की कामना करते हैं। इन पुण्यकृत्यों से आत्मशांति भी मिलती है और आत्मसंतोष भी। इस युग की आवश्यकता देखते हुए ऐसे उदार और परमार्थ भावनाएँ रखने वाले व्यक्तियों को समझाया जाना चाहिए कि आज के समय में पुस्तकालयों की स्थापना ही सबसे अधिक आवश्यक और

उपयोगी पुण्य कार्य है। किसी की तात्कालिक समस्या को हल कर देना, सामयिक समाधान निकाल देना, दुःख-दरद में सहायता करना सेवा धर्म है। यह प्रशंसनीय है, परंतु वह पुण्य कर्म सर्वोपरि है जिसका लाभ चिरस्थायी समय तक मिलता रहे। पुस्तकालय इस आवश्यकता को पूरी करते हैं और इस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

स्थापित किए गए पुस्तकालयों से पुस्तकें लेकर कोई भी व्यक्ति वांछित दिशा में प्रगति और उन्नति की महत्वाकांक्षा को पूरा कर सकते हैं। और कुछ नहीं तो लोग आत्मसुधार और आत्मनिर्माण की प्रेरणा तो पा ही सकते हैं। पुस्तकालयों की स्थापना से सधने वाले पुण्य कार्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि वहाँ से यदि पाँच व्यक्ति सत्प्रेरणा प्राप्त कर सके और पाँच-पाँच अन्य व्यक्तियों को भी अपने निष्कर्षों से प्रभावित कर सके तो अच्छे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती ही जाएगी। समाज में इस प्रकार सत्प्रवृत्तियों और सुसंस्कृत प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि होती रही तो उसका पुण्य-लाभ पुस्तकालय की स्थापना करने वाले व्यक्तियों को ही मिलेगा। उनके द्वारा स्थापित पुस्तकालयों से सत्प्रेरणा ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जाएगी और पुण्य-लाभ चक्रवृद्धि ब्याज की तरह उन आकांक्षियों को मिलता रहेगा, जो इन पुस्तकालयों की स्थापना करेंगे।

इस तरह समझा-बुझाकर थोड़े से प्रयत्नों द्वारा ही किन्हीं संपन्न तथा परमार्थ भावना रखने वाले व्यक्तियों को सरलता से तैयार किया जा सकता है। पुण्य-लाभ के लिए, ऋषिऋण चुकाने के लिए, ज्ञान और विवेक के प्रसार का उद्देश्य पूरा करने तथा सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज की स्थापना के लिए गाँव-गाँव में

विद्यालयों और व्यायामशालाओं की तरह पुस्तकालयों की स्थापना का अभियान चलाया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि पुस्तकालयों में संख्या बढ़ाने के लिए नहीं वरन सद्ज्ञान, सद्विचार और सत्प्रेरणाओं का प्रवाह उत्पन्न करने के लिए अच्छे स्तर की पुस्तकें रखी जानी चाहिए। यह ठीक है कि साहित्य से मनुष्य में विचारशीलता उत्पन्न होती है। वह वस्तुओं, घटनाओं और परिस्थितियों का विश्लेषण करने की दृष्टि प्रदान करता है। किंतु यह नहीं भूल जाना चाहिए कि व्यक्ति और समाज के पतन का कारण भी विचार ही होते हैं। निकृष्ट विचारों के कारण ही लोग दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते तथा दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाते हैं और शक्ति का अपव्यय करते हुए योग्यता नष्ट करते हैं। अतः पुस्तकालयों में पुस्तकें एकत्रित करते समय उनका चयन भी सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। इसके लिए विचारों को ऊँचा उठाने वाली और नैतिक, धार्मिक, आत्मिक, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्थान का पथ-प्रदर्शन करने वाली पुस्तकें चुनी जानी चाहिए।

आजकल कई पुस्तकालयों में सदस्य संख्या बढ़ाने अथवा भीड़-भाड़ बनाए रखने के लिए हलके स्तर की कहानियाँ, रोमांटिक उपन्यासों, जासूसी पुस्तकों का अंबार लगा लिया जाता है। इससे पुस्तकालयों का वह उद्देश्य पूरा नहीं होता, जो युग की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। यदि शोभा, सुसज्जा का ध्यान रखते हुए, पुस्तकालयों में लोगों की भीड़ इकट्ठी करने के लिए इस तरह का कूड़ा जमा कर लिया जाए तो लोग उन्हीं की ओर आकर्षित होंगे। जो कुछ थोड़ा-बहुत अच्छा साहित्य भी रखा जाता है लोगों का उसे छूने को भी मन नहीं करता। यह भी संभव है कि

अच्छा साहित्य विपुल मात्रा में होते हुए भी थोड़ी सी निम्न स्तर की पुस्तकें लोगों का ध्यान बटा दें और और उन्हें अपनी ओर ही आकर्षित किए रहें। इसलिए पुस्तकों के चयन में पूरी-पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए। ध्यान रखा जाना चाहिए कि ऐसी कोई भी पुस्तक लाइब्रेरी में न रखी जाए जिससे उनका उद्देश्य पूरा होने में बाधा आती हो। दूध की कितनी ही मात्रा क्यों न हो, थोड़ी सी खटाई सारे दूध को खराब करके रख देती है। इसी प्रकार अच्छे साहित्य के साथ गंदी, बेहूदी, बेतुकी पुस्तकों और अंधविश्वास फैलाने वाली, आस्थाओं को तोड़ने या मान्यताओं को विकृत करने वाली पुस्तकें किसी आदर्शवादी पुस्तकालय की सारी गरिमा को नष्ट करके रख देती हैं।

यह निरा लचर तर्क है कि लोगों की माँग के अनुसार पुस्तकें मँगानी ही पड़ती हैं। स्मरण रखा जाना चाहिए कि आदर्शवादी पुस्तकालयों की रीति-नीति लोकरुचि के अनुसार चलना नहीं, लोकरुचि को परिष्कृत करना है। लोगों की रुचि तो अपराध कर्मों में भी होती है; इसलिए तो अपराध कर्मों की छूट नहीं दी जा सकती। लोकमानस का परिष्कार करने के लिए पुस्तकालयों की स्थापना की जानी है। यह उद्देश्य ध्यान में रखा जाए तो गलती होने की संभावना नहीं रहती है और यदि इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा गया तो सारा किया-कराया गुड़-गोबर हो जाएगा। अस्तु, इस दिशा में बहुत ही गंभीर और सजग दृष्टि रखी जानी चाहिए। जिन पुस्तकों से अपने व्यक्तित्व में उच्च नैतिक गुणों के समावेश की प्रेरणा मिलती हो, जो मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाने वाली प्रेरणा देती हों वही पुस्तकें नवजागरण, विचारक्रांति और ज्ञानयज्ञ के लिए स्थापित पुस्तकालयों हेतु चुनी जानी चाहिए। जीवन निर्माण

के लिए साहित्य की आवश्यकता होती है जो व्यक्ति की भावनाओं और मान्यताओं को ऊँचा उठाने की सामर्थ्य रखता हो। जिससे पाठक में सुरुचि का विकास नहीं होता, जिससे मानसिक और आध्यात्मिक तृप्ति नहीं मिलती वैसी पुस्तकों को पुस्तकालय के कूड़ेदान में भी स्थान नहीं देना चाहिए।

पुस्तकालय में कैसी पुस्तकें रखी जाएँ? इस संबंध में दृष्टि साफ हो जाने के बाद उसकी व्यवस्था और संचालन की बात सोची जानी चाहिए। जो लोग पुस्तकालयों को समाज की एक अनिवार्य आवश्यकता समझते हैं, उन्हें चाहिए कि वे इस दिशा में ठोस कदम उठाने के लिए अपने समान व्यक्तियों को तलाशें और एक समिति बना लें। ऐसे व्यक्ति स्वयं भी सहयोग प्रस्तुत करें तथा लोगों से भी सहयोग प्राप्त करें। थोड़े से प्रयत्नों से ही इस योग्य व्यवस्था तो बनाई ही जा सकती है कि पुस्तकालय का आरंभ किया जा सके। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सहयोग आर्थिक रूप में ही प्रस्तुत किया जाए। आलमारियाँ देने, मेज, कुरसी अथवा बैठकर पढ़ने के लिए बिछावन आदि के रूप में सहयोग किया जा सकता है। किसी का कोई मकान या कोई कमरा खाली पड़ा हो तो वह लोकमंगल की भावना से पुस्तकालय के लिए दे सकता है। अस्थायी प्रबंध के लिए मकान के किसी हिस्से में कोई कामचलाऊ व्यवस्था बनाई जा सकती है।

पुस्तकालय के आरंभ की व्यवस्था बनाकर उसके लिए एक पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त कर दिया जाए जो नियमित रूप से निश्चित समय पर पुस्तकालय खोले, सदस्यों को पुस्तकें जारी करे तथा पुस्तकालय की देखभाल करे। सदस्यों से जमानत धन के रूप में पाँच-दस रुपये या अधिक जमा भी कराए जा सकते हैं और दो-तीन रुपये या इससे अधिक मासिक पुस्तकालय का सदस्यता

शुल्क भी लिया जा सकता है, जिससे कि पुस्तकों की मरम्मत और नई पुस्तकों की खरीद की जाती रहे।

लोकमानस के परिष्कार का उद्देश्य लेकर स्थापित किए जाने वाले पुस्तकालयों के अध्यक्ष में जनसंपर्क बढ़ाने की योग्यता भी होनी चाहिए। आरंभ में लोगों की रुचि सत्साहित्य पढ़ने में नहीं भी हो सकती है। अतः उनमें अभिरुचि जाग्रत करने का कार्य भी पुस्तकालयाध्यक्ष को भी करना चाहिए। इसके साथ ही संचालकों को भी चाहिए कि अपने प्रभाव क्षेत्र के व्यक्तियों को ऐसे आदर्शवादी पुस्तकालयों का सदस्य बनने की लिए प्रेरित करें।

यह सिलसिला यदि चल पड़े, गाँव-गाँव में पुस्तकालयों की स्थापना के प्रयास किए जाएँ तो उन प्रयासों से सदज्ञान और सद्विचार का आलोक उत्पन्न होने के सत्परिणाम देखे जा सकते हैं। कहा जा चुका है कि उनका महत्त्व किसी देव-मंदिर से जरा भी कम नहीं है। उपयोगिता की दृष्टि से गाँव या नगर के बिजलीघरों के समकक्ष समझा जा सकता है। पुस्तकालयों की पुस्तकों से घर-घर में पहुँचकर लोगों के अंतःक्षेत्र में आलोक उत्पन्न किया जा सकता है जो जीवन और व्यक्तित्व के स्तर को ऊँचा उठाने का आधार प्रस्तुत करता है।

स्वाध्याय से ही महामानव जन्मे हैं

दक्षिण अफ्रीका की बात है, उस दिन गांधी जी ने ग्लैडस्टन की जीवनी पढ़ी थी। एक प्रसंग था जिसने गांधी जी के जीवन की एक धारा को उलटकर रख दिया—“एक दिन आम सभा हो रही थी। उनमें ग्लैडस्टन के साथ उनकी धर्मपत्नी भी थीं। ग्लैडस्टन को चाय पीने की आदत थी। चाय बनाने का कार्य

उनकी धर्मपत्नी ही करती थीं। आम सभा के बीच ग्लैडस्टन ने चाय पीने की इच्छा की तो श्रीमती ग्लैडस्टन ने बिना किसी झिझक, लज्जा या संकोच के अपने हाथ से वहीं चाय बनाई। पति को पिलाई और कप-प्लेट हाथ से साफ किए। ऐसा उन्होंने कई स्थानों में किया।”

इस घटना को पढ़कर गांधी जी के जीवन में जो प्रतिक्रिया हुई, उसका उल्लेख उन्होंने स्वयं इन शब्दों में किया है—“पत्नी के प्रति वफादारी मेरे सत्य के व्रत का अंग इस प्रसंग को पढ़ने के बाद ही बनी।”

लोग पुस्तकें पढ़ते हैं पर जो पढ़ा गया है उस पर चिंतन-मनन और वार्त्तालाप नहीं करते। उससे पढ़े हुए का प्रभाव जीवन में स्थायी नहीं हो पाता। यदि पुस्तकों के सार जीवन में उतारने की प्रक्रिया लोग सीख जाएँ तो सामान्य सी परिस्थितियों में ही हर व्यक्ति उत्कृष्टता के चरम बिंदु तक पहुँच सकता है। पुस्तकें गौधृत और दुग्ध के समान पौष्टिक आहार हैं। जो मन, बुद्धि आचार-विचार, तर्क व विवेक को परिपुष्ट करके आत्मोत्थान का उज्ज्वल पथ-प्रशस्त करती हैं।

गांधी जी ने उक्त प्रसंग राजचंद्र भाई को बड़े कुतूहल के साथ सुनाया। इस पर राजचंद्र भाई ने कहा—“बापू इसमें आश्चर्य की क्या बात है? अब आप बताइए—अपनी बहनें, बेटियाँ और छोटे-छोटे बच्चे क्या ऐसे कार्य कहीं भी नहीं कर सकते? बड़ों की आज्ञापालन में तो उन्हें प्रसन्नता ही होती है। पत्नी के इस व्यवहार को असामान्य मानने का एक ही कारण हो सकता है, पत्नी से कोई आकांक्षा। साधारण लोग अपनी धर्मपत्नी को कामवासना की दृष्टि से देखते हैं। उससे नारी के प्रति हीनता का भाव हम उसके साथ

प्रत्येक कार्य में आरोपित करते हैं। पत्नी उसे ही बुरा मानती है। यदि उसे हीनता या कामुकता की दृष्टि से न देखा जाए तो सचमुच प्रत्येक स्त्री ग्लैडस्टन की धर्मपत्नी की तरह ही बहन-बेटियों की सी सेवा बिना लज्जा या संकोच के कर सकती है।”

गांधी जी को यह बात बड़ी महत्वपूर्ण लगी। ग्लैडस्टन के जीवन चरित्र को पढ़ने से जिस मर्म को वह नहीं भेद पाए थे, वह वार्त्तालाप से खुल गया। तब तक कस्तूरबा और उनमें प्रायः झगड़ा हुआ करता था। उस दिन से बापू ने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया और इतिहास जानता है कि इसके बाद कस्तूरबा गांधी ने गांधी जी को सच्चे मित्र की भाँति खुलकर सहयोग प्रदान किया। उन्होंने उनके साथ जेल जाने तक में भी झिझक या संकोच नहीं किया। स्वाध्यायशीलता और पढ़े हुए को जीवन में पचाने के अभ्यास ने गांधी जी को महान बना दिया। रस्किन की लिखी ‘अन टू दि लास्ट’ पुस्तक तो गांधी जी के सारे जीवन की मार्गदर्शिका रही।

सारमिंटो को दस वर्ष की आयु में स्कूल जाना छुड़ा दिया गया, क्योंकि पिता गरीब था। घर का काम-काज करने के लिए उनकी आवश्यकता आ गई। वह अपने ही शहर सन जान (अर्जेंटाइना) में दुकानदारी करने लगा। छह वर्ष दुकानदारी में ही बीते।

इन वर्षों में वह पढ़ने के लिए समय अवश्य निकाला करता था। समय ही क्यों वह प्रत्येक पढ़े हुए पर विचार किया करता और उन्नति के अनेक मनसूबे बनाया करता। इस बालक की जीवनी से पता चलता है कि उसकी क्रियाशीलता बड़ी विलक्षण थी। पुस्तकें पढ़ने का उस पर तुरंत प्रभाव होता और वह प्रभाव उसके जीवन में कोई न कोई परिवर्तन ही लाने वाला होता। व्यापार में ईमानदारी,

समाज सेवा और राजनीतिक, धड़ल्लेबाज से संघर्ष करने की हिम्मत भी उसे ऐसे ही मिली, पर मुसीबत यह थी कि वह अधिक पढ़ा-लिखा नहीं था।

एक दिन वह फ्रैंकलिन की जीवनी पढ़ रहा था। फ्रैंकलिन को भी दस वर्ष की आयु में पढ़ाई छोड़नी पड़ी थी पर उसने अध्यवसाय से स्वतः ही दुनिया की पाँच भाषाएँ सीखीं और एक साथ वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं राजनीतिक के रूप में विश्वविख्यात हुआ। यह पढ़कर उस युवक ने विचार किया, क्या वह दूसरा फ्रैंकलिन नहीं बन सकता है? उसके मन ने कहा-अध्यवसाय से क्या संभव नहीं। वह उस दिन से पढ़ने लगा। अंगरेजी, चिली, फ्रेंच कई भाषाएँ सीखीं और राजनीति में भाग लेने लगा। इस पर उसे देश निकाला दे दिया गया। वह काफी दिन तक चिली में रहकर देश में राजनीतिक स्वार्थबाजी के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। उसने पत्रकार के रूप में अर्जेन्टाइनावासियों को भ्रष्टाचार के विरुद्ध संगठित कर दिया और एक दिन विद्रोह की ज्वाला फूट ही गई। युवक स्वदेश लौटा और एक दिन वह अर्जेन्टाइना का उप-राष्ट्रपति बना। इस महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँचकर भी उसने जन-सेवा का मार्ग न छोड़ा। उसने अर्जेन्टाइना को साक्षर बनाने का अभियान चलाया और उसे इतना तीव्र किया कि आज अर्जेन्टाइना दुनिया के देशों में सबसे अधिक शिक्षित देश है। अमेरिका तक ने उसकी सेवाएँ उपलब्ध कीं। एक पुस्तक की प्रेरणा ने इस युवक की 'डोर्मिंगो फास्टिनो' के सारमिंटो नाम से विश्वविख्यात कर दिया।

सारमिंटो युवकों से हमेशा कहा करता था-“यह आवश्यक नहीं कि तुम दिन-रात पढ़ो। थोड़ा पढ़ो, अच्छा पढ़ो और जो पढ़ो

उसे अपने जीवन में आत्मसात करने का अभ्यास भी डालो तो तुम्हारे सामान्य जीवन में भी सफलता के अनेक द्वार खुल सकते हैं।”

बर्मा की क्लंग घाटी दर्रे पर आजाद हिंद सेना का मुकाबला अँगरेजी सेना की टुकड़ी से हो गया। आजाद हिंद सेना के कुल तीन जवान और अँगरेजों की १६९ सैनिकों की टुकड़ी। इस भीषण परिस्थिति में नेताजी बैठे स्वामी विवेकानंद की पुस्तक पढ़ रहे थे। पुस्तक के इस अंश ने—“जब संकटों के बादल सिर पर मँडरा रहे हों तब भी मनुष्य को धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्यवान व्यक्ति भीषण परिस्थितियों में भी विजयी होते हैं।” नेताजी को भारी प्रकाश दिया।

घाटी से खबर आई क्या तीनों सैनिक पीछे हटा लिए जाएँ। नेताजी के हृदय में छिपे विवेकानंद के विचार फूट पड़े, बोले—“नहीं, जब तक एक भी सैनिक जीवित रहता है चौकी खाली न की जाए।” तीन सैनिक रात भर गोली चलाते रहे। प्रातःकाल तो वे मुठभेड़ की लड़ाई के लिए चढ़ दौड़े। जब उस चौकी पर पहुँचे तो देखा अँगरेजों के कुछ सिपाही तो मरे पड़े हैं, शेष अपना सामान छोड़कर भाग गए हैं।

सुभाष चंद्र बोस हैं नहीं पर स्वतंत्रता का सबसे पहला आनंद उन्होंने ही लिया। ऐसा भी क्यों कहें, सच बात तो यह है कि स्वामी विवेकानंद के साहित्य ने उन्हें चिर-मुक्त बना दिया था। उसमें अगाध निर्भयता, धैर्य और साहस था, ये सब गुण उन्हें विवेकानंद साहित्य से विरासत में मिले थे। उन्होंने जो कुछ भी पढ़ा उसके एक-एक वाक्य को अपने जीवन का एक-एक चरण बना लिया। उसी का प्रतिफल था कि वह जापान, सिंगापुर और जर्मनी जहाँ भी

गए उसी प्रकार स्वागत हुआ जिस प्रकार स्वामी विवेकानंद का अमेरिका और इंग्लैंड में। यह श्रेय स्वाध्याय का ही है, जो सुभाष की जीवन शिला पर क्रियाशीलता बनकर खुद चुका था।

निराशा और घुटन की जिंदगी से ऊबकर बाल्जक अपने एक मित्र के पास गया। तब वह एक वकील के पास क्लर्की करता था। मित्र से उसने कुछ धन की सहायता के लिए कहा तो मित्र ने इनकार कर दिया। निराशा और एक कदम आगे बढ़ गई।

अब मैं किसी को मित्र नहीं बनाऊँगा, उसने प्रतिज्ञा की। आज की स्थिति में मित्र की भावना है कहाँ? मित्रताएँ लोभ, लालच व किसी स्वार्थ के लिए होती हैं, सहयोग और अच्छे रास्ते में जाने के लिए नहीं। युवक ने कहा, अब पुस्तकें ही मेरी मित्र हैं वही मेरे माता-पिता। उस दिन से वह पुस्तकों की शरण में आ गया। दिन-दिन भर पढ़ने में गुजारना और पढ़े हुए पर निरंतर विचार करना ही उसका जीवन हो गया। मस्तिष्क में विचारों का समुद्र लहराने लगा। फिर उसने इस समुद्र का मंथन किया। इच्छा तो थी एक वकील बनने की पर ज्ञान संचय उसे अपनी ही ओर खींच ले गया। बाल्जक लेखक बन गया। पढ़े हुए विचारों को परिमार्जित रूप देने वाला यही बाल्जक प्रसिद्ध उपन्यासकार बना। उसे १९वीं शताब्दी का स्रष्टा कहा जाता है। अनेक प्रकार के ज्ञान के समन्वय से उसने विश्व को एक नई समन्वयपूर्ण विचारधारा दी।

सात वर्ष के एक बालक में पढ़ने की अभिरुचि जाग गई। जब उसके दोस्त मटरगश्ती कर रहे होते, तब वह कोई कहानी, कविता, नाटक और धार्मिक पुस्तकें पढ़ रहा होता। हर्बर्ट स्पेन्सर, स्टुअर्ट मिल और टिंडल की पुस्तकों ने उसे बहुत प्रभावित किया। फिर उसने बेकार किस्म के उपन्यास, कहानियाँ, पढ़ना छोड़ दिया

और निर्माणात्मक साहित्य ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ने लगा। वह एक स्टेट एजेंट के यहाँ नौकरी कर रहा था, तब भी अच्छी पुस्तकें पढ़ने का चाव उसने न छोड़ा। इससे उसके जीवन में बुराइयों का प्रवेश नहीं हो सका। पश्चिम में जन्म लेकर मांसाहार का कट्टर विरोधी यही बालक एक दिन जार्ज बर्नार्ड शा के नाम से विख्यात हुआ। उसने जब लेखनी उठाई तो दुनिया के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों की श्रेणी में जा विराजा।

एक फटी सी पुस्तक मेरे हाथ लगी। आरंभ के कुछ पृष्ठ फटे थे। पर प्रत्येक पुस्तक से कोई न कोई अच्छी बात सीखने का मुझे व्यसन हो गया था। इस पुस्तक को पढ़ने से मुझे कुछ बहुत ही मार्मिक पंक्तियाँ हाथ लगीं। उन्हें मैंने अपनी डायरी में नोट कर लिया। ये पंक्तियाँ एक कहानी की थी और इस तरह थीं—“मैं किसान हूँ। मुझे किसान होकर जीने दो और वैसे ही मरने भी दो। मेरा पिता किसान था, अतः उसके पुत्र को भी वैसा ही होने दो।” मुझे दस वर्ष बाद पता चला कि यह शब्द जार्ज ए० ग्रीन के थे।

इन पंक्तियों में परिश्रमशीलता के भाव थे। डायरी में नोट इन शब्दों ने मुझे निरंतर परिश्रम करने की प्रेरणा दी। मैंने बहुत सी पुस्तकें पढ़ी हैं। उन प्रत्येक पुस्तक से मैंने अनीति के विरुद्ध संघर्ष, मानव जाति से प्रेम के पाठ पढ़े और सीखे। यों कहूँ कि पुस्तकों का सारांश ही उतरकर मेरे जीवन में समा गया है। जो कुछ भी सफलता दिखाई दे रही है, वह उनका ही आशीर्वाद है।

आप समझ गए होंगे यह शब्द मैक्सिम गोर्की के हैं। मानवता की सेवा के लिए उन्हें बहुत समय तक याद किया जाता रहेगा।

संसार की अधिकांश प्रतिभाएँ पुस्तकों से निकली हैं। पढ़ते हम लोग भी हैं, पर पढ़कर अपने जीवन को महान बनाने का जो

अवसर जवाहरलाल नेहरू, मार्क्स स्टालिन, माईकेल, फैराडे, डारविन, लूथर, बरबैक, गैलियस आदि ने प्राप्त किया, उस रहस्य को हम कहाँ जान पाए? हम भी इनकी तरह पढ़े हुए आदर्शों को अपने जीवन में उतार सके होते तो हमारी श्रेणी भी गांधी, गोर्की जैसे महान पुस्तक प्रसूत पुत्रों में रही होती।

स्वाध्याय में प्रमाद न करें

पुस्तकों के संबंध में लोगों की धारणा प्रायः बहुत ही निराशाजनक और उपेक्षापूर्ण सी होती है। वे समझते हैं कि इनकी जीवन में कोई उपयोगिता नहीं होती। इसीलिए साधारण जन पुस्तकों के प्रति कोई रुचि नहीं दर्शाते। थोड़े-बहुत लोग जो पुस्तकें खरीदते और पढ़ते हैं, वे भी मात्र मनोरंजन के लिए। इसीलिए बाजार में मनोरंजन करने वाली, समय काटू पुस्तकें बहुतायत से उपलब्ध हैं। जबकि पुस्तकों का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को दिशा देना तथा समाज के नव-निर्माण की, मनुष्यता के उत्थान की प्रेरणा देना है। साहित्य की कसौटी निर्धारित करते हुए मुंशी प्रेमचंद ने लिखा है—“हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो तथा जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे। हमें सुलाए नहीं बल्कि जगाए और जगाकर उठने, उठकर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करे।”

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके निर्माण में उत्कृष्ट पुस्तकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की ने अपने निबंध पुस्तक ‘मेरी मार्गदर्शिका’ में लिखा है—“जब मैं तरुण था तब मैं बाल्जक और डिकेंस की

लिखी पुस्तकें बड़े चाव से पढ़ता था। इन पुस्तकों के द्वारा मेरा परिचय उन लोगों से हुआ जिनकी दुःख-सुख की समस्याएँ हमसे भिन्न हैं। मेरे चारों ओर जो लोग रहते थे, वे निम्न स्तर का जीवन बिताते थे। इन्हीं लोगों के बीच मेरा जीवन संघर्ष आरंभ हुआ। बाल्जक और डिकेंस के ग्रंथ पढ़ने के बाद मेरे भीतर आकांक्षा जाग्रत हुई कि मैं उठ पढ़ूँ और संघर्ष करूँ। मुझे एकदम चकित कर देने वाली कृति थी बाल्जक की 'लापोद शौग्रिना'। इसमें एक महाजन के घर का वर्णन है। लगभग दो दर्जन व्यक्ति एक साथ बोलते हैं और शोर मचाते हैं। पुस्तक में उन सबका इतना सजीव चित्रण है कि मैं उनकी बात को न केवल सुनता ही था, बल्कि वे सब मुझे दिखाई देते थे। उनकी आँखें, उनकी मुस्कराहट, भंगिमाएँ आदि सब कुछ, जबकि बाल्जक ने उनकी शक्तों का कोई वर्णन नहीं किया था। इस पुस्तक से मुझे बड़ी प्रेरणा मिली।”

गोर्की ने इन पंक्तियों में पुस्तकों के माध्यम से सजीव प्रेरणाएँ मिलने की बात तो लिखी है, यह भी बताया है कि पुस्तकें किस प्रकार पढ़ी जानी चाहिए अर्थात् पुस्तकें पढ़ते समय उनमें इतना तन्मय हो जाना चाहिए कि कथ्य अपने आप बोलने लगे। गोर्की ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके निर्माण में पुस्तकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पुस्तकों का महत्त्व दर्शाते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार रामप्रताप त्रिपाठी ने लिखा है—“पुस्तकें जाग्रत देवता हैं। उनकी सेवा करके तत्काल वरदान प्राप्त किया जा सकता है।” लोकमान्य तिलक कहा करते थे—“पुराने कपड़े पहनकर नई पुस्तकें खरीदा कीजिए।” महात्मा गांधी ने पुस्तकों का महत्त्व दर्शाते हुए लिखा है—“अच्छी पुस्तकों के पास होने से भले मित्रों के साथ रहने की कमी नहीं खटकती। जितना ही मैं पुस्तकों का अध्ययन करता गया

मुझे उनकी खूबियाँ उतनी ही अधिक मालूम होती गई।”

गीता, रामायण, बाइबिल और कुरान का लाखों लोग नित्य पाठ करते हैं, उनसे जीवन के लिए उपयोगी प्रेरणाएँ प्राप्त करते हैं। जान रस्किन बाइबिल के एक प्रसंग से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उसके निहित सिद्धांत विशेष के आधार पर उन्होंने एक पुस्तक लिख डाली—‘अन टू द लास्ट’। महात्मा गांधी ने इसी पुस्तक से सर्वोदय की प्रेरणा प्राप्त की थी। ‘अन टू द लास्ट’ पुस्तक ने अर्थशास्त्र के प्रचलित घिसे-पिटे नियमों को ऐसा झिझोड़ दिया कि उनमें परिवर्तन करना ही पड़ा। इसके पहले आमतौर पर अर्थशास्त्र यह दलील देते थे कि अगर निरक्षर श्रमिकों को आवश्यकता से अधिक वेतन दिया जाए तो या तो वे शराब पी जाएँगे अथवा बुरे काम करेंगे क्योंकि उनका आचार, व्यवहार सुसंस्कृत नहीं होता। रस्किन ने अपनी पुस्तक के माध्यम से सवाल उठाया था कि उन्हें असंस्कृत रखने के लिए जिम्मेदार कौन है? इस प्रश्न के साथ उन्होंने तथाकथित सुसंस्कृत लोगों की भ्रांत धारणाओं को झकझोरा और उन्हें अनुभव कराया कि निरक्षर तथा निम्न वर्ग के लोगों के प्रति उनका व्यवहार न केवल अमानवीय है वरन नृशंस और पाशविक भी है।

टालस्टाय की पुस्तक ‘किंगडम आफ गार्ड’ ने भी महात्मा गांधी को प्रभावित किया और इन दोनों पुस्तकों से उन्हें ऐसी प्रेरणाएँ मिली कि वे आजीवन शोषण और अन्याय के विरुद्ध लड़ते रहे। गांधी जी से प्रेरणा लेकर ही अमेरिका के मार्टिन लूथर किंग जीवन भर रंगभेद नीति के विरुद्ध संघर्षरत रहे।

महात्मा गांधी के संबंध में सर्वविदित है कि उन्होंने बचपन में सत्यवादी हरिश्चंद्र नाटक पढ़कर ही जीवन भर सत्य का पक्ष

लेने का संकल्प लिया था। गीता, रामायण पढ़कर उनके मन में अन्याय के विरुद्ध लड़ने की आकांक्षा-उमंग जागी थी और आजीवन वे अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। योगी अरविंद कहा करते थे कि जब-जब भी मेरे सामने कोई मानसिक या आध्यात्मिक उलझन आती है तब-तब मैं भगवद्गीता की शरण लेता हूँ और उसका कोई न कोई श्लोक मेरी समस्याओं का समाधान सुझा देता है। लोकमान्य तिलक द्वारा लिखे गए गीता रहस्य ग्रंथ से सैकड़ों व्यक्तियों ने प्रेरणा प्राप्त की थी और स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े थे। इतना ही नहीं, हँसते-हँसते फाँसी के फंदे पर चढ़ गए थे।

डॉ० आर्नाल्ड की पुस्तक 'लाइट आव एशिया' ने पं० नेहरू को इतना प्रभावित किया था कि उनके व्यक्तित्व पर जीवनभर बुद्ध धर्म के सिद्धांतों का प्रभाव पड़ा। उल्लेखनीय है 'लाइट आव एशिया' पुस्तक में भगवान बुद्ध का ही जीवन चरित्र लिखा गया है।

व्यक्तियों के निर्माण में ही नहीं, समाज के निर्माण में भी पुस्तकों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अब से ३०० वर्ष पूर्व प्लेटो द्वारा लिखित पुस्तक 'रिपब्लिक' ने फ्रांसीसी राज्य क्रांति के बाद विश्व को एक ऐसी दिशा दी कि आज समूचा संसार प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली अपनाए हुए है। यद्यपि कई देशों में अधिनायकवादी, तानाशाही और एकतंत्र पद्धति का शासन भी है, परंतु वे भी अपने आप को प्रजातांत्रिक कहलाना ही पसंद करते हैं।

एशिया में जन्मे मार्क्स ने लंदन में फटेहाल स्थिति में रहते हुए 'कैपिटल' पुस्तक लिखी। उसमें प्रतिपादित सिद्धांतों को सर्वप्रथम कार्यान्वित किया लेनिन ने और रूस में साम्यवाद आया। रवींद्रनाथ टैगोर ने जब प्रथम बार समाजवाद में समता की बात सुनी तो उस पर खुशी प्रकट करते हुए उन्होंने इसे एक कल्पना और स्वप्न ही

बताया। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों की बात है। सन् १९३० के प्रारंभ में जब वे रूस गए तो वहाँ की समाज व्यवस्था से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने लिखा—“इस देश की यात्रा किए बिना मेरी जीवनयात्रा ही अधूरी रह जाती।” वहाँ की समाज व्यवस्था से प्रभावित होकर उन्होंने बंगला भाषा में एक रचना लिखी—‘द सेट चिट्ठी’। जैसे ही इसका अँगरेजी अनुवाद हुआ तो अँगरेजी सरकार ने इसे तुरंत जब्त कर लिया।

इस प्रकार ढेरों पुस्तकें हैं जिन्होंने व्यक्ति और समाज को प्रभावित किया। जहाँ इन पुस्तकों ने साधारण मनुष्य को महामानव स्तर का बना दिया, वहाँ सामाजिक उत्थान की दिशा में भी आधार स्तंभ सिद्ध हुई हैं।

संसार के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व विचार शक्ति को जिसे ज्ञान भी कहा जा सकता है, प्राप्त करने और प्रगति की दिशा में अग्रसर होने का एक ही उपाय है स्वाध्याय। इसीलिए शास्त्रकारों ने ‘स्वाध्याय में प्रमाद न करो’ और ‘दिन-रात स्वाध्याय में लगे रहो’ का निर्देश दिया है। स्वाध्याय तो अनिवार्य है परंतु पुस्तकें पढ़ते समय अधिकांश पाठकों की दृष्टि इस तरह की नहीं होती कि उससे ज्ञान साधना का उद्देश्य भी पूरा होता चले। प्रथम तो लोगों में पठनरुचि का ही अभाव होता है। अशिक्षित या अल्पशिक्षित व्यक्तियों में तो पठन-रुचि का अभाव क्षम्य भी है क्योंकि उन्हें पढ़ना ही नहीं आता, किंतु पढ़े-लिखे व्यक्तियों द्वारा भी जब अध्ययन के प्रति उपेक्षा भाव बरता जाता है तो विचारशील वर्ग के लिए स्थिति शोचनीय हो जाती है। पढ़े-लिखे व्यक्ति जब तक स्कूल-कॉलेज में रहते हैं तभी पुस्तकों से संबंध रखते हैं। स्कूल-कॉलेज से निकलते ही उपार्जन और यापन के क्षेत्र में प्रवेश करते ही पुस्तकों से संबंध तोड़ लेते

हैं। यद्यपि विद्यार्थी जीवन में भी उनका झुकाव ज्ञान साधना की ओर कम, डिग्री प्राप्त करने की ओर अधिक ही रहता है। फिर भी उन दिनों पुस्तकों से संबंध रहने का संतोष तो किया जा सकता है किंतु बाद में तो वह स्थिति भी नहीं रहती। पढ़ने-लिखने के बाद लोग नौकरी-पेशे में या रोजगार-धंधे में इस तरह व्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें पुस्तकों का सान्निध्य करने के लिए समय ही नहीं मिलता। कम से कम कहा तो यह जाता है। अन्यथा समय न मिलने की बात मजबूरी नहीं बनती, पठनरुचि का अभाव ही पुस्तकों से कोई संबंध न रहने का मुख्य कारण रहता है।

सभी व्यक्तियों में पुस्तकों के प्रति उपेक्षा का भाव रहता हो ऐसी बात नहीं है, पर जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में रुचि रखते भी हैं उनमें उपयोगी अध्ययन की प्रवृत्ति कम ही होती है। अधिकांश व्यक्ति खाली समय काटने के लिए जैसी हाथ में आ जाती है वैसी ही किताबें पढ़ने लगते हैं। इस तरह के अध्ययन का उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन नहीं मनोरंजन ही होता है, जिससे कोई लाभ तो नहीं होता है हानि ही अधिक होने की संभवाना रहती है। पढ़ना एक श्रेष्ठ मनोरंजन है, परंतु उसके साथ कोई उद्देश्य न रखा जाए तो वह मनोरंजन भी अनावश्यक और हानिकारक हो जाता है।

ज्ञानवर्द्धन के लिए, बौद्धिक क्षुधा की पूर्ति के लिए प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को नियमित रूप से समय निकालते रहना चाहिए। रेल, मोटरों में सफर करते हुए या खाली समय में पढ़ने के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से केवल अध्ययन के लिए ही समय लगाने की व्यवस्था रखनी चाहिए। यह इस उद्देश्य से कि ज्ञान जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है और उस आवश्यकता की पूर्ति उसी

तत्परता से की जानी चाहिए जिस तत्परता से हम अपने जीवन की दूसरी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

ज्ञानवृद्धि के और भी उपाय हैं, परंतु पुस्तकों से प्रेम, सत्साहित्य का अध्ययन उन सभी उपायों में सर्वोत्तम और सर्वाधिक सुलभ उपाय है। जो भी पुस्तकें ज्ञानवर्द्धन में उपयोगी हो सकती हैं उन सभी को खरीद लेना तो हर किसी के लिए संभव नहीं है फिर भी अपने बजट में ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिए जिससे कि घर में एक छोटा घरेलू पुस्तकालय बनता चले। लोग पुस्तकों पर खर्च करना फजूलखर्ची समझते हैं। यह पुस्तकों का महत्त्व न समझ पाने के कारण ही है। एक कारण यह भी है कि आजकल जिस तरह की पुस्तकों से बाजार भरे पड़े हैं, वे जीवन को सीधा स्पर्श नहीं करतीं। केवल हलका-फुलका मनोरंजन देती हैं जिससे पाठक उसको अनावश्यक और व्यर्थ समझने लगता है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि मनोरंजक पुस्तकों से बाजार भरे होने के कारण श्रेष्ठ साहित्य के महत्त्व को ही नकार दिया जाए। यदि साहित्य के महत्त्व को समझा जाए और उसके माध्यम से अपनी मानसिक क्षुधा की तृप्ति तथा आत्मविकास के प्रकाश की सहज उपलब्धि संभव समझी जाए तो श्रेष्ठ साहित्य का अभाव नहीं रहेगा। अभाव इसलिए नहीं रहेगा कि तब लोग उसी तरह की पुस्तकें खोजकर पढ़ेंगे जिनसे कोई दिशा या कोई प्रेरणा मिलती है। एक बार रस आने पर तो फिर दूसरे विषय जो मात्र हलका-फुलका मनोरंजन ही देते हैं, फीके लगने लगेंगे। यही नहीं उनकी उपेक्षा भी की जाने लगेगी।

अतएव विचारशील व्यक्तियों को चाहिए कि वे श्रेष्ठ साहित्य का महत्त्व दूसरों को समझाएँ और पठनरुचि के विकास तथा परिष्कार में सहयोग दें। समझदार व्यक्तियों के लिए भी यह कर्तव्य

हो जाता है कि वे ज्ञानवृद्धि के लिए अध्ययन की रीति-नीति अपनाएँ, अच्छी पुस्तकें खोज-खोजकर पढ़ें। उनके लिए अपने बजट में एक मद निश्चित रखें। इससे घर में एक छोटा सा सुंदर पुस्तकालय बनता चलेगा और उसमें रहने वाले सदग्रंथों का इच्छानुसार सुविधापूर्वक लाभ उठाया जा सकेगा।

अध्ययन के लिए नियमित समय लगाया जाना चाहिए। सामान्य और मध्यम वर्ग के लोगों के लिए सभी पुस्तकें खरीदकर पढ़ पाना संभव नहीं होता। इसलिए अपने शहर या कसबे में कोई पुस्तकालय हो तो उसका सदस्य बना जा सकता है। वहाँ से पुस्तकें लाई जा सकती हैं और उनका अध्ययन करते रहा जा सकता है। यह भी एक उपाय हो सकता है कि अपने मित्रों और परिचितों का ऐसा स्वाध्याय मंडल बना लिया जाए जो पुस्तकें खरीदने के लिए अपनी आमदनी का एक अंश खर्च करते रहने के लिए सदैव तत्पर रहें। व्यक्ति कोई पुस्तक खरीदने से पहले अपने मित्रों-स्वाध्याय मंडल के सदस्यों से परामर्श कर ले कि यह पुस्तक किसी दूसरे सदस्य के पास तो नहीं है। यदि है तो उस पुस्तक को छोड़कर दूसरी पुस्तक खरीदी जाए। इस प्रकार उस मित्रमंडल के सभी सदस्य नई-नई पुस्तकें खरीदते रह सकते हैं और आपस में बदल-बदलकर पढ़ते रह सकते हैं। इसमें एकदूसरे से परामर्श करने, परस्पर विचार-विमर्श करने की ही सुविधा नहीं रहती, बल्कि प्रत्येक सदस्य के लिए अपने द्वारा खर्च की जाने वाली रकम से कई गुना रकम की पुस्तकों का लाभ मिलता रह सकता है।

पढ़ते समय एकाग्रता और स्थिर चित्त होना चाहिए। सरसरी तौर पर पढ़ने से ज्ञानवृद्धि का प्रयोजन अधूरा ही रह जाता है। उथले चित्त से पढ़ने पर जो पढ़ा जाता है, वह भी दिमाग से उतर जाता है।

इसलिए किताब के पन्ने पलटते भर न रहा जाए, बल्कि जो कुछ पढ़ा जाए उसे स्मृति में रखने, उस पर विचार करने और विवेक जगाने का प्रयत्न किया जाए। प्रेरणाप्रद साहित्य के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण लाभ अपने विवेक को जाग्रत होने, विचारशीलता का विकास होने के रूप में देखा जा सकता है। जिससे भले-बुरे का ज्ञान, उचित-अनुचित का भेद और नीर-क्षीर विवेक की विश्लेषण बुद्धि निखरती है। अध्ययन किसी आध्यात्मिक साधना, ध्यान-पूजा से कम महत्वपूर्ण या कम गंभीर नहीं है।

ज्ञानवृद्धि के लिए पढ़ते समय यदि नोट्स लेने और पढ़े गए का सार लिखते चलने की आदत डाल ली जाए तो उससे न केवल पढ़ी गई बात स्मृति में जम जाएगी वरन अपने पास जानकारीयों का एक कोश ही संचित होता चला जाएगा। पढ़ी गई प्रेरणाओं या जानकारीयों को स्मृति में बनाए रखने के लिए ऐसा कोई प्रयास नहीं किया जाता तो अध्ययन ढालू छत पर बरसने वाले पानी की तरह जमीन पर बह जाएगा, इसलिए पढ़ने में समय लगाने के साथ-साथ लगाए गए उस समय को सार्थक करने के लिए भी ठोस व्यवस्था बनाए रखना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि ज्ञान संसार की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में यहाँ तक कहा है कि ज्ञान की उपासना मेरी ही उपासना है। जीवन को महान व श्रेष्ठ बनाने में समर्थ उस ज्ञान को प्राप्त करने के हजार उपाय हो सकते हैं। प्रकृति निरीक्षण, चिंतन, मनन, अन्वेषण, पर्यटन, सत्संग और परामर्श जैसे कई उपाय हो सकते हैं। अध्ययन उनमें से सर्वश्रेष्ठ है और उसके लिए ज्ञान की महिमा और गरिमा को अनुभव करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को समय निकालते रहना चाहिए।



मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ० प्र०)